RNI No. : DELBIL06272
ISSN 2349 - 1906
Postal Registration No. : PT-7C

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

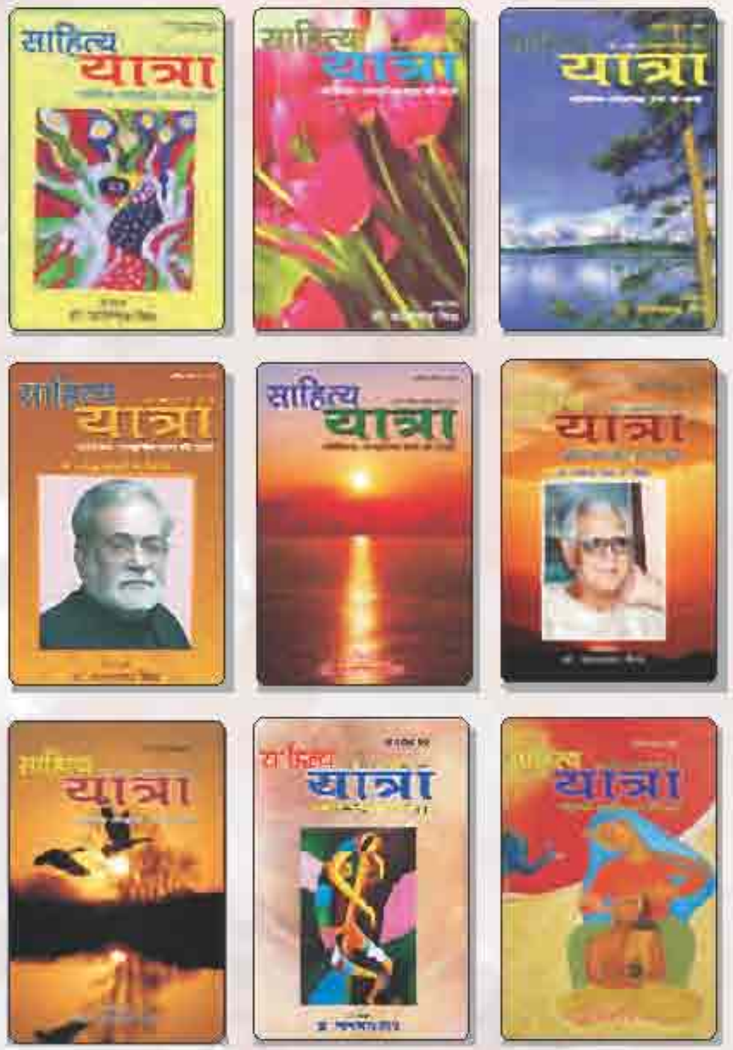

Design & Print @ Cyan Design Consultant # 9555411666

वर्ष 3 अंक 10 जनवरी-मार्च 2017

ISSN 2349-1906

साहित्य यात्रा

वर्ष 3 अंक 10 जनवरी-मार्च 2017

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

संपादक

डॉ. कलानाथ मिश्र

साहित्य यात्रा

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

संपादक
डॉ॰ कलानाथ मिश्र

साहित्य यात्रा
साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

संपादक
साहित्य यात्रा

प्रिय महोदय,
'साहित्य यात्रा' के

एक वर्ष (4अंक)	:	300 /- (डाक खर्च सहित)
तीन वर्ष (12 अंक)	:	750 /- (डाक खर्च सहित)
संस्थागत मूल्य (3 वर्ष)	:	1100 /-
आजीवन सदस्यता	:	11000 /-
विदेश के लिए (3 वर्ष)	:	$ 60 डॉलर

(पटना के बाहर का चेक पर कृपया बैंक कमीशन के 40/- रुपये उसमें अतिरिक्त जोड़ दें।)

उक्त दर के अनुरूप मैं चेक / ड्राफ्ट संलग्न कर रहा हूँ। कृपया मुझे ग्राहक बना कर मेरी प्रति निम्न पते पर भिजवाएँ।

नाम : .....
पता : .....
.....
.....
.....
फोन : .....

यहाँ से काटिए

चेक/ड्राफ्ट संपादक / प्रसार व्यवस्थापक, **साहित्य यात्रा,** पटना के नाम पर ही बनाएँ और निम्नलिखित पते हमें भेजने की कृपा करें :-

आप निम्न खाता विवरण पर ऑन लाइन भी पैसा जमा करा सकते हैं। पैसा जमाकर इसकी सूचना साहित्य यात्रा को अवश्य दें।

बैंक विवरण : पंजाब नेशनल बैंक, ए.एन. कॉलेज, पटना
खाता संख्या : 623000100016263, IFSC Code : PUNB0623600

संपादक
साहित्य यात्रा
ई-112, श्रीकृष्णपुरी, पटना-800001 (बिहार)
फोन : 9835063713/8507473724
ई-मेल : shahityayatra@gmail.com
वेब साईट : http:/www.sahityayatra.com

अंक आप साहित्य यात्रा के पते पर मनीऑर्डर भेज कर भी मंगा सकते हैं।

साहित्य यात्रा

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

वर्ष-3 अंक-10 जनवरी-मार्च, 2017

परामर्शी

डॉ॰ सूर्य प्रसाद दीक्षित

डॉ॰ श्रीरंजन सूरिदेव

डॉ॰ रामशोभित प्रसाद सिंह

डॉ॰ संजीव मिश्र

सम्पादकीय सलाहकार

श्री आशीष कंधवे

उप-संपादक

प्रो॰ (डॉ॰) प्रतिभा सहाय

सहायक संपादक

डॉ॰ सत्यप्रिय पाण्डेय

डॉ॰ रवीन्द्र पाठक

आवरण चित्रांकन

डॉ. हर्षवर्धन आर्य

व्यवस्थापकीय सहयोग

श्री अमित मिश्र

मो॰ : 8507473724

संपादक

प्रो॰ (डॉ॰) कलानाथ मिश्र

साहित्य यात्रा में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार एवं दृष्टिकोण संबंधित लेखकों के हैं जिनसे संपादक, प्रकाशक, मुद्रक एवं पत्रिका से जुड़े किसी भी व्यक्ति का सहमत होना अनिवार्य नहीं है। सभी विवादों का निपटारा पटना क्षेत्र के अन्तर्गत सीमित है। पत्रिका में संपादन से जुड़े सभी पद गैर-व्यावसायिक एवं अवैतनिक है।

साहित्य यात्रा

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

RNI No. : BIHHINO5272
ISSN 2349-1906

© स्वत्वाधिकार सुरक्षित
प्रकाशित सामग्री के पुनः उपयोग के लिए लेखक,
अनुवादक अथवा **साहित्य यात्रा** की स्वीकृति अनिवार्य है।

संपादकीय कार्यालय
'अभ्युदय'
ई-112, श्रीकृष्णपुरी
पटना-800001 (बिहार)
मोबाइल : 09835063713/08507473724
ई-मेल : sahityayatra@gmail.com
वेब साईट : http:/www.sahityayatra.com

मूल्य : ₹ 45

शुल्क दर :	एक वर्ष (4 अंक)	300
	तीन वर्ष (12 अंक)	750
	(डाक खर्च सहित)	
	संस्थागत मूल्य (3 वर्ष)	1100
	आजीवन सदस्यता	11,000
	विदेश के लिए	60 डॉलर (3 वर्ष)

शुल्क **'साहित्य यात्रा'** के नाम पर भेजें।

'साहित्य यात्रा' त्रैमासिक डॉ॰ कलानाथ मिश्र के स्वामित्व में और उनके द्वारा 'अभ्युदय' ई-112, श्रीकृष्णपुरी, पटना-800001, बिहार से प्रकाशित तथा ज्ञान गंगा क्रियेशन्स, पटना से मुद्रित। स्वामी/संपादक/प्रकाशक/मुद्रक : डॉ॰ कलानाथ मिश्र।

अनुक्रम

संपादकीय 07-10
डॉ. कलानाथ मिश्र

आपके पत्र 11

कविता (नव वर्ष)
हर्षवर्धन आर्य
हर पल मुख पर मुस्कान रहे 12

आलेख
रामदरश मिश्र
धरती का कवि 13-17

डॉ. रीतारानी पालीवाल
जयशंकर प्रसाद और मोहन राकेश के नाटक: सम्बंध की तलाश 18-28

संस्मरण
विजय निकोर
अमृता प्रीतम जी और ईश्वर 29-32

आलेख
डॉ. पूर्णिमा मौर्या
त्रिलोचन की काव्य संवेदना 33-38

डॉ. सत्य प्रकाश सिंह
'आज' से नहीं 'अब' हम मित्र हैं- त्रिलोचन शास्त्री 39-42

डॉ. भुवाल सिंह ठाकुर
भारतेन्दु युगीन आर्थिक चिंतन 43-50

डॉ. चैनसिंह मीना
हिन्दी दलित काव्य में स्त्री जीवन : संवेदना और सरोकार 51-61

डॉ. अरूणाकर पाण्डेय
पढ़ना और समझना 62-68

रामचरण पाण्डेय
इब्बार रब्बी का कवि-कर्म 69-74

लहरी राम मीणा
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाए। 75-84

डॉ. राज किशोर पाण्डेय
प्राचीन भारतीय समाज में नारी (भाग-1) 85-92

प्रो. सुरेश ऋतुपर्ण
हिन्दी का वैश्विक परिदृश्य 93-104

कुमारी अनामिका
सैंधव सभ्यता में शिव की उपासना और शिवतत्व 105-110

नितप्रिया प्रलय
असम का अंकिया-नाट 111-116

कविता

राजीव उपाध्याय
कितने पथिक, उसके कई तलबगार हुए, 117-119
समय, मेरी कहानी, तस्वीर बदलती है,
एक तस्वीर नई है,
हाँ बस इतनी सी ही जिंदगी

रंजना चौबे
आँखों की नमी, आँसू 120

सम्पादकीय

इन दिनों आजादी को लेकर पूरे देश में एक आन्दोलन जैसी स्थिति उत्पन्न हो गई है, यह निश्चित रूप से हम सबके लिए विचारणीय विषय है। साहित्य का अध्येता होने के नाते हम सबकी जवाबदेही और भी बढ़ जाती है। जब साहित्य के नजरिये से आजादी की बात करते हैं तो पाते हैं साहित्य वह है जो हमें तमाम जड़ताओं, रूढ़ियों, क्षुद्रताओं से मुक्त कर मनुष्यता की सामान्य भाव भूमि पर लाकर खड़ा कर दें। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि जो साहित्य यह नहीं करता उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है। ऐसे में साहित्य की भूमिका और भी बड़ी हो जाती है कि वह समाज में ऐसे भाव बोध को जगाये जिससे सहानुभूति, परस्पर सौहार्द और मिल-जुलकर देशहित में काम करने की चेतना का विकास हो और यह कार्य साहित्य की कर सकता है। इतिहास गवाह है कि जब-जब मनुष्यता पर संकट गहराया है, मूल्य विघटन हुआ है, साहित्य ने ही समाज को दशा और दिशा दी है। जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटक 'चन्द्रगुप्त' में लिखा कि जब तक हम मालव मागध छोड़कर समूचे आर्यावर्त की बात नहीं करेंगे तब तक कुछ नहीं हो सकता। मुक्ति के रास्ते अकेले में नहीं बल्कि वे सबके साथ होते हैं। साहित्य इसी सामूहिक मुक्ति की बात करता है, सामूहिक आजादी की बात करता है। वह हर तरह के विखंडन और विभेद के विरूद्ध है। विभाजनकारी नीतियों के विरूद्ध है। यदि हम देश के वर्त्तमान परिदृश्य पर विचार करें तो जो बात मन में उठती है उसे बेबाकी के साथ आपसे साझा करना चाहूँगा।

आज पूरे देश में आजादी की नशा सी छायी है। कुछ लोग हैं जिनका मन पैंसठ वर्षों से आजाद रहते हुए ऊब सा गया है। हो भी क्यों न, उन्होंने सीधे अथवा प्रकारान्तर से सत्ता में रहते हुए आजादी का भरपूर स्वाद चखा है फिर भी जी मचलता है। कुछ और स्वाद चाहिए अतः और आजादी की तलाश है। दूसरी ओर कुछ ऐसे युवा हैं जिन्होंने आजादी की लड़ाई देखी नहीं। देश के लिए कुर्बान होने वाले वीर क्रान्तिकारियों की आधी अधूरी कहानी सुन रखी है। वे स्वतंत्र भारत में जन्मे हैं। अंग्रेजों के कोड़े नहीं खाए, क्यों कि उनका देश स्वतंत्र है, सम्प्रभुता सम्पन्न है। लेकिन वे करें क्या? उनकी शिराओं में बहता रक्त एक बार फिर मचल उठा है। क्या करें, युवा हैं, खून में जोश है। कुछ लोग उकसाने वाले भी हैं। माचिस की तिली लगाई नहीं कि युवाओं की आजादी की ज्वाला उफान पर आ जाती है।

अब वे अपने ही देश में पूरी उर्जा लगाकर, झुंड बनाकर चिल्लाते फिरते हैं 'हमें चाहिए आजादी, हम लकर रहेंगे आजादी'। लेकिन समस्या है कि उन्हें ठीक से अजादी का अर्थ पता नहीं। अंग्रेज तो अब हैं नहीं कि आजादी के नारेवाजों पर घोड़े दौड़ा दें, पसलियाँ तोरवा दें, काला पानी

भेज दे, जलियाँवाला बाग में घेर कर गोलियों से भून दें या फाँसी चढ़बा दें। वह स्वाद तो इन भटके आजादी के दीवानों को मिलने से रहा। अब देश की अपनी ही सरकार क्या करें?

वे जब छात्रों को समझाते हैं कि भाई आजादी का मतलब अपने ही देश के विरुद्ध नारे लगाना नहीं है। देश को कमजोड़ करना नहीं है। यह देश तुम्हारा है। तो एक दूसरी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। सत्ता से बेदखल हो चुकी पार्टियाँ इसे मुद्या बनाते हैं। वे कहते हैं अभिव्यक्ति की आजादी नहीं है, हमें अभिव्यक्ति की आजादी चाहिए। अब कौन समझाए कि भाई देश की राजधानी के बीच सड़क पर डंफे, नगाड़े, पताके और माईक लेकर अपने ही देश में आजादी-आजादी चिल्ला रहे हो, फिर कैसी अभिव्यक्ति की आजादी चाहिए? ये आजादी के दीवाने जब अधिक जोश में आते हैं तो अपने ही देश के विरुद्ध नारे लगाने लगते हैं। देश द्रोह तक की परिभाषा भूल जाते हैं। देश के लिए सीमा पर कुर्बान हुए शहीद के बच्चे कहते हैं 'उन्हें दुश्मन की गोलियों ने नहीं मारा। युद्ध ने मारा।' अब साधारण मस्तिष्क वाले इसे नहीं समझते। उसे गलत कहते हैं अरे युद्ध ही के कारण तो सब फसाद है। यदि 'वसुधैव कुटुम्बकम' की भावना आ जाय तो फिर युद्ध कैसा? पर युद्ध तो अनेक प्रकार के होते हैं। युद्ध मन में होता है, घर में होता है पर लोग यूँ शहीद नहीं होते। तिरंगे में नहीं लिपटते। लेकिन युद्ध हो रहा था अब उसके पिता सीमा पर थे, देश के लिए गोली चला रहे थे दुश्मन की गोली लगी, शहीद हो गए। तो गलती दुश्मन की तो नहीं। उस गोली की भी नहीं गलती तो युद्ध की है। या फिर देश के उस सीमा की भी है जिसकी रक्षा वे कर रहे थे। अपने कर्तव्य का निर्वाह करते हुए चरम बलिदान किया। पर इस बलिदान का सम्मान उनका अपना खून न भी करे तो क्या किया जाय? पर कृतज्ञ राष्ट्र तो उन्हें नमन करेगा ही। वस्तुतः दुनिया में न किसी देश की सीमा रेखा होती न युद्ध होता, न सैनिक शहीद होते। उस बच्ची ने मुझे पुनः युद्ध पर विचार करने के लिए विवश कर दिया।

आजादी के दीवाने कुछ दूसरे किस्म के छात्र भी हैं। वे भी नारे लगाते हैं बंदे मातरम। उनके सामने भी देश की स्वतंत्रता संप्रभुता को बचाए रखने का संघर्ष है। अब दोनों आपस में टकराते हैं। एक दूसरे पर आरोप प्रत्यारोप मढ़ते हैं। फिर एक दूसरे से आजादी चाहने लगते हैं। दोनों एक ही शरीर के दो हाथ हैं। किससे किसे आजाद किया जाय। इनके खून में इतना उबाल है कि ये भूल जाते हैं कि क्या उचित है क्या अनुचित। स्वतंत्रता, स्वच्छंदता, उच्छश्रृंखलता के माने इन्हें कौन समझाए। ऐसा भी नहीं कि वे पढ़े लिखे नहीं। यह उर्जा यदि देश के वंचितों, गरीबों को पढ़ाने, बे सहरों को सहारा देने में लगाते तो खुद-ब-खुद इन्हें आजादी का स्वाद मिलता। बस किसी तरह अपने भीतर के उबाल को शान्त करना है। पढ़ाई लिखाई अपनी जगह। नौकरी चाकरी की क्या परवाह? स्वतंत्रता संग्राम में भी बापू के आह्वान पर बहुतों ने अपनी पढ़ाई छोड़ दी थी। आज के आजादी के इन दीवानों को इस नारेबाजी में अपना राजनीतिक भविष्य दिखता है। टीवी चैनेल वालों को मसाला मिलता है। वो भी लाचार हैं। एक तो टीआरपी का सवाल है, दूसरे कि चौबीस घंटे दिखाने के लिए कुछ मसाला भी तो चाहिए।

जो भी हो आजादी शब्द में ही एक अजब किस्म का जोश है, उर्जा है, संघर्ष का सुख है,

उत्साह है। जीवन कुछ देर के लिए सार्थक लगने लगता है। लगता है जैसे तत्काल जीवन का कुछ उद्देश्य मिल गया। आखिल यूँ ही बाल गंगाधर तिलक ने नहीं कह दिया था-'स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।' तो फिर किसी के जन्मसिद्ध अधिकार को कैसे सरकार हर सकती है? आखिर मानवाधिकार भी तो कोई चीज है? सुभाष चंद्र बोस ने कह दिया-' तुम मुझे खून दो मैं तुम्हें आजादी दूँगा।' पर आज किस आजादी के लिए इनसे खून माँगा जाय और उस खून का करेंगे भी क्या? इतना ही जोश आजादी की है तो फिर भारत की सेना शहादत मांगती है। शरहद पर रोज जवान शहीद होते हैं वहाँ जाकर यदि आजादी-आजादी के नारे लगाएँ तो शायद इस जोश से पड़ोसी को कुछ संदेश मिले। देश में आजादी का उबाल है, सड़कों पर भूचाल है लेकिन सरकार लाचार है। दिल्ली के आजादी के दिवानों का असर यह हुआ कि बिहार प्रशासनिक सेवा के अधिकारी भी प्रदर्शन करने लगे। समझने की कोशिश की जा रही है कि आखिर इन आजादी के दीवानों को कौन सी आजादी दी जाय। एक मन तो होता है सबको सारी आजादी दे दी जाय। सभी नियम, कानून, संविधान, अनुशासन, पुलिस की बंदिशों से आजादी, तब जाके होगा राम राज्य। न कही डकैती, न बलात्कार, न अपहरण, न हत्या कुछ भी नहीं पूरी की पूरी आजादी। फिलहाल एक उच्च स्तरीय कमीटी तो जरूर बना देना चाहिए जिसमें सत्ता में रहकर आजादी का स्वाद चख चुके वैसे नेताओं, पत्रकारों, बुद्धिजिवियों को जगह मिले।

चलिए मुझे लगा कि मैं भी आजादी का कुछ स्वाद चख लूँ सो लिख दिया। बुरा लगे तो आजादी के नाम पर माफ कर देना। थोड़ी आजादी तो मुझे भी चाहिए।

अब सही अर्थों में आजादी की बात करता हूँ। स्वतंत्र भारत में पहली बार पद्म पुरस्कारों की पहुँच देश के आम लोगों तक हुई। यह एक बड़ी घटना है। सुदूर देहात और ग्रामीण क्षेत्रों में 'सेवाहि धर्मः' की भावना से बिना किसी स्वर्थ के, प्रचार-प्रसार से दूर एकान्त भाव से सेवा करते रहना किसी तपस्या से कम नहीं। देश के ऐसे महानुभावों को चिन्हित कर राष्ट्र ने उन्हें पद्म सम्मान से अलंकृत किया। यह एक सकारात्मक पहल है। इसकी जितनी प्रशंसा की जाय कम है। उन सम्मानित जनों को बधाई।

यह सुयोग ही है कि हिन्दी के एक ऐसे ही जनकवि साहित्यकार त्रिलोचन का यह शताब्दी वर्ष है। जिनका समूचा साहित्य, जन-जन की पीड़ा को स्वर देने का काम करता है। हिन्दी आलोचना का यह दुर्भाग्य है कि त्रिलोचन जैसे संभावनाशील कवि बहुत दिनों तक उपेक्षित रहे। बहरहाल यह सुखद है कि देर से ही सही, त्रिलोचन के महत्व को समझा गया, उनकी कविताएँ भी जहाँ-तहाँ पाठयक्रमों में लगाई गई है। उनपर पुस्तकें भी आ रही है, पत्रिकाओं के विशेषांक भी निकले और निकाले जा रहे हैं। वस्तुतः रचना की ताकत को बहुत दिन तक दबाकर नहीं रखा जा सकता है। त्रिलोचन की अनुभूति में जितनी तीक्ष्णता है, अभिव्यक्ति भी उतना ही व्यापक। उन्होंने सहज भाव से अपने विचारों को अपनी रचनाओं में रखा। भाषा का प्रयोग अभिव्यक्ति को सशक्त करने के लिए किया। वे हिन्दी में प्रयोगधर्मिता के पक्षधार थे। उनका मनना था की भाषा में जितने प्रयोग होंगे वह उतनी ही समृद्ध होगी। नामवर जी ने कहा है कि त्रिलोचन की कविता में हिंदी भाषा

की प्रति तथा उसके प्रयोक्ता समुदाय के जीवन का एक ठेठ रूप प्राप्त होता है। ऐसे श्रेष्ठ रचनाकार के प्रति साहित्य यात्रा परिवार को विनम्र श्रद्धांजलि। इस अंक को त्रिलोचन विशेषांक बनाने की योजना हमारी भी थी किन्तु विशेषांक तो नहीं लेकिन इस अंक में त्रिलोचन पर विशेष सामग्री जरूर दी जा रही है। हम ऐसी उम्मीद करते हैं कि इसे पढ़कर पाठक त्रिलोचन की एक मुकम्मल छवि जरूर बना पायेंगे। हिन्दी के वरिष्ठ कवि समालोचक रामदरश मिश्र जी का आलेख 'धरती का कवि' त्रिलोचन की उसी सहजता का उद्घाटन करता है, जिसकी हमने चर्चा की है। पूर्णिमा मौर्य का आलेख त्रिलोचन की काव्य यात्रा की सम्यक पड़ताल करता है। इस तरह से त्रिलोचन को समग्रता में देखने की कोशिश जरूर की गई है साथ ही पत्रिका के अन्य आलेख साहित्य के विविध सन्दर्भों को रेखांकित करते हैं और कहीं न कहीं यह दिखाते हैं कि साहित्य समाज के उन सभी पक्षों को टटोलता है जिन पर उसकी आधारशिला टिकी होती है। जहां भुआल सिंह का आलेख भारतेंदु का आर्थिक चिंतन समाज के अर्थ पक्ष के महत्व को रेखांकित करता है तो वहीं दूसरी तरफ चैन सिंह मीणा का आलेख हिंदी दलित काव्य में स्त्री जीवन, दलित स्त्री की पीड़ा को दिखाता है। डॉ. सुरेश ऋतुपर्ण का आलेख हिंदी के वैश्विक परिदृश्य को उजागर करता है और उसकी बढ़ती ताकत की तरफ संकेत करता है। नित्य प्रिय प्रलय का आलेख असम के लोकनाट्य अंकिया की संवेदना को उजागर करता है। अरुणाकर पाण्डेय का 'पढ़ना और समझना', डॉ. राजकिशोर पाण्डेय जी का प्राचीन भारतीय समाज में नारी अदि सुचिंतित आलेख महत्वपूर्ण हैं। इस तरह से कुल मिलाकर यह अंक साहित्य के विविध सन्दर्भों को अपने भीतर समेटने की कोशिश करता है और यही समाहार साहित्य का उद्देश्य है, और लोकतंत्र भी।

हिन्दी के यशस्वी रचनाकार आदरणीय नरेन्द्र कोहली जी को भी पद्म सम्मान से अलंकृत किया गया। उनका रचनात्मक सहयोग 'साहित्य यात्रा' को मिलता रहा है। हमारे लिए यह हर्ष का विषय है। उनकी लेखनी अनवरत चलती रहे यही कामना है। उन्हें बधाई।

हिन्दी में विशुद्ध शोध पत्रिका का प्रकाशन अत्यंत कठिन हो गया है। स्तरीय सामग्रियों का संकलन करना दुरूह कार्य है। फिर भी मुझे इस बात का संतोष है कि कुछ रचनाकारों की अन्वेषण दृष्टि तथा उनकी रचनाशीलता का सहयोग हमें मिलता रहा है।

मैं सभी लेखकों को उनके रचनात्मक सहयोग के लिए साधुवाद देता हूँ। उनकी रचनाशीलता अनवरत बानी रहे और हिन्दी के पाठकों को उसका लाभ मिलता रहे इसी कामना के साथ पाठकों को यह अंक समर्पित कर रहा हूँ। मुद्रण में यदि कोई टंकण का दोष हो तो पाठक बंधु उदारता पूर्वक क्षमा करेंगे।

आपका
डॉ. कलानाथ मिश्र

आदरणीय सम्पादक जी,

'साहित्य यात्र' पत्रिका का नया अंक मिला, पत्रिका में एक ताजगी नजर आती है . बड़े-बड़े शहरों और साहित्यिक मठों से निकलने वाली पत्रिकाओं के बीच, अब छोटे शहरों से निकलने वाली पत्रिकाएँ धीरे-धीरे साहित्य के आकाश में अपनी चमक बिखेर रही हैं. 'साहित्य यात्रा' पत्रिका भी उन्हीं में से एक है . 'साहित्य यात्रा' पत्रिका ने अपनी लंबी यात्रा में कई उदीयमान लेखकों को लगातार स्थान दिया और वह सिलसिला अभी तक बरकरार है . पत्रिका के ताजा अंक में भी नए व पुराने लेखकों का अद्‌भुत सामंजस्य है . आचार्य रामचंद्र शुक्ल की कथालोचना पर रामदरश मिश्र जी का आलेख पठनीय तो है ही साथ-साथ विचारोत्तेजक भी है . शुक्ल जी के चिंतन की देशी परम्परा को मिश्र जी बखूबी रेखांकित करते हैं . 'हिंदी कविता में पर्यावरण- बोध' पर डॉ० राजहंस कुमार जी का लेख साहित्य के साथ-साथ अंतरानुशासनिकता की समझ को भी दुरुस्त करता है . कुल मिलाकर देखें तो पत्रिका अपने कलेवर और विषयों के चयन के मामलों में कहीं से भी कमजोर और किसी भी स्थापित साहित्य की पत्रिका से कमतर नहीं है .

प्रकश चन्द्र

दिल्ली

समय के साथ

सम्पादक साहित्य यात्रा,

जुलाई-दिसम्बर, 2016 का अंक जो मुझे मिला बहुत अच्छा लगा। पत्रिका की सामग्री गंभीर और विचारोत्तेजक है। इस अंक में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की कथालोचना, कविता में रहस्यवाद और राग दरबारी की भाषा में लैंगिक पक्षपात लेख पठनीय है। भाषा के स्तर पर स्त्री सभी जगह किस प्रकार दोयम दर्जे की शिकार होती रही है, उसे प्रामाणिकता के साथ पढ़ने को मिला। मैं आशा करती हूँ कि भविष्य में पत्रिका में इसी तरह के गंभीर और उच्चस्तरीय सामग्री पढ़ने को मिलेगी। पत्रिका की सफलता हेतु ढेर सारी शुभकामनाएँ।

डॉ. इन्दुदत्त तिवारी
दयालसिंह सांध्य कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

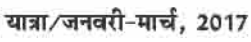

आप संस्कृति मंत्रालय एवं साहित्य अकादेमी की जू. फेलोशिप, हिन्दी अकादमी नवोदित एवं आशुलेखन पुरस्कार, एशियन अकेडमी आर्ट अवार्ड, प्रज्ञा सम्मान, रोटरी इलीट प्रेजिडेंट अवार्ड सहित अनेक संस्थाओं के सर्वोच्च सम्मानों से अलंकृत हैं।
सम्पर्क सूत्र : 9968421236
ई–मेल : aryaharshvardhan2@gmail.com

हर पल मुख पर मुस्कान रहे

हर्षवर्धन आर्य

हर पल मुख पर मुस्कान रहे
कानों में प्रिय, मृदु गान रहे
इस नए वर्ष में , सदा हर्ष में
प्रतिपल तेरा मान रहे ।।

खुशियों से महके यह जीवन
पुलकित पुलकित मुस्काए मन
जो मिले तुम्हें, मिल कर झूमें
बाँटो खुशियाँ आँगन आँगन ।।

ना मिले लहू अखबारों में
झगड़ा फसाद समाचारों में
सभी देश हित, काम करे नित
रहे सम भाव सुविचारों में

हो उदय भाग्य का शुभ तारा
ज्योतित हो फिर जीवन सारा
शुभ के हर सू सन्देश मिलें
नववर्ष का हो हर दिन प्यारा ।।

✧ ✧ ✧

रामदरश मिश्र हिन्दी साहित्य के जाने–माने रचनाकार हैं। कविता, कहानी, उपन्यास, समीक्षा, निबंध, आत्मकथा, यात्रा, संस्मरण, डायरी साहित समस्त साहित्यिक विधाओं में विपुल लेखन।
संप्रति : सेवा निवृत प्रोफेसर, दिल्ली विश्वविद्यालय।

धरती का कवि

डॉ. रामदरश मिश्र

त्रिलोचन जी एक एसे कवि हैं जिनकी कविताओं की महत्ता के संबंध में विविध धारणायें हैं। वैसे पांचवें दशक में प्रकाशित उनके पहले काव्य संग्रह 'धरती' ने अपने वैशिष्ट्य की ओर सबका ध्यान आकृष्ट किया किन्तु वे बड़े कवि हैं, यह घोषणा इधर हाल में यानी लगभग आठ-दस वर्ष पूर्व हुई है और उनके बड़प्पन का इलहाम उन आलोचकों को अचानक हुआ जो पांचवें दशक से ही उनसे गहरे जुड़े रहे तथा मौखिक रूप से उनकी प्रशंसा भी करते रहे।

सन् 1946 में बनारस के एक प्राइवेट स्कूल से हाई स्कूल की परीक्षा की तैयारी कर रहा था। एक स्थानीय कवि–सम्मेलन में त्रिलोचन जी से भेंट हो गयी। उससे पूर्व उनकी चर्चा सुनता रहा था। उनके काव्य–संग्रह 'धरती' का नाम वरिष्ठ कवियों की जुबान पर आ जाता था। उनसे परिचय हुआ तो ऐसा नहीं लगा कि पहला और औपचारिक परिचय हो रहा है। वे पूरे मन से मिले और जुड़े। इसके कुछ दिन बाद ठठेरी गली में त्रिलोचन जी बर्तन खरीदते दिखाई पड़ गये। मुझे देखते ही पहचान गये। उस दिन जब उन्हें ज्ञात हुआ कि मैं हाई स्कूल की परीक्षा दे रहा हूँ तो हंसते हुए बोले ''भाई मैं भी हाई स्कूल की परीक्षा दे रहा हूँ।'' फिर देर तक बातें करते रहे। इतना बड़ा विद्वान और चर्चित कवि हाई स्कूल की परीक्षा दे रहा है, जानकर विचित्र लगा किन्तु इस परीक्षा के कारण उन्हें एक प्रकार से अपनी बराबरी के स्तर पर पाकर अच्छा लगा। इससे समीपता का बोध अधिक होगा।

इसके बाद तो वर्षों इनसे भेंट होती रही। कभी बिड़ला छात्रावास में कभी किसी गोष्ठी और कवि–सम्मेलन में, कभी किसी के घर। उनकी बातें, कविता के संबंध में उनकी विचित्र–विचित्र टिप्पणियां भी सुनता रहता

था। विचित्र इसलिए कि आज वे आपकी कविता की प्रशंसा करते थे कल बड़ी निर्ममता से कह देते थे– ''आप कविता लिखना बंद कर दीजिए।'' उनकी इस प्रकार की टिप्पणियों से उस समय के अनेक नवोदित कवि परेशान हो उठते थे क्योंकि सभी लोग उनके समीक्षात्मक विवेक से आर्तंकित थे। लोग उनके फक्कड़पन को प्यार और सम्मान भी देते थे। कुछ लोग तो उनके काफी आगे पीछे थे। उनके साथ उनका उठना-बैठना, आना-जाना, खाना-पीना गहराई से जुड़ गया था और एक दूसरे की साहित्यिक प्रतिभा की पहचान का आदान-प्रदान भी चलता रहता था। बाद में यह आदान-प्रदान काफी रंग लाया।

त्रिलोचन जी एक एसे कवि हैं जिनकी कविताओं की महत्ता के संबंध में विविध धारणायें हैं। वैसे पांचवें दशक में प्रकाशित उनके पहले काव्य संग्रह 'धरती' ने अपने वैशिष्ट्य की ओर सबका घ्यान आकृष्ट किया किन्तु वे बड़े कवि हैं, यह घोषणा इधर हाल में यानी लगभग आठ-दस वर्ष पूर्व हुई है और उनके बड़प्पन का इलहाम उन आलोचकों को अचानक हुआ जो पांचवें दशक से ही उनसे गहरे जुड़े रहे तथा मौखिक रूप से उनकी प्रशंसा भी करते रहे। जब उन्हें लिखना होता था तो दूसरे प्रकार के कवि महत्वपूर्ण हो उठते थे। यानी उनके लिए त्रिलोचन वह नहीं हैं जो वास्तव में हैं। उनके लिए त्रिलोचन वह हैं जिसे वे अपने खास प्रयोजन की सिद्धि के लिए अपने ढंग से और अपनी इच्छा के अनुसार पेश करना चाहते हैं। यदि ऐसा न होता तो त्रिलोचन के अच्छे गीतों और कुछ अच्छे सानेटों के स्थान पर 'चंपा' और 'नबई महरा' जैसी गद्यात्मक कविताएं रेखाकिंत नहीं की जाती। कोई इन आलोचकों से पूछे कि पांचवें दशक में लिखी गयी 'चंपा' यदि इतनी महत्वपूर्ण है तो इतने लम्बे समय तक इसका महत्व क्यों नहीं इनकी पकड़ में आया?और ताज्जुब यह है कि इन कुछ आलोचकों द्वारा इन कविताओं की महानता की घोषणा होते ही तमाम लोग 'हुआ हुआ' करने लगे।

मैं यह प्रसंग यहां इसलिए उठा रहा हूँ कि हमारी एक खास तरह की आलोचना रचनाकारों की रचनायें से सहज फूटने वाले सौन्दर्य की पहचान करने के स्थान पर वह चीज देखना चाहती है जिसे देखना उसे रास आता है और जिससे उसकी हठधर्मिता को तृप्ति मिलती है। ऐसी आलोचना रचनाकार का बहुत अहित करती है। वह रचनाकार के श्रेष्ठ अवदान की उपेक्षा कर उसके सामान्य अवदान को महत्व देती है। उसे अहंकार होता है कि वह जिस कवि या रचना को चाहे महान बना सकती है। इससे उसके अहंकार की तृप्ति होती है किन्तु रचनाकार या रचना का अहित होता है। रचनाकार का श्रेष्ठ अवदान उपेक्षित रह जाता है और श्रेष्ठ के नाम पर जो पेश किया जाता है वह पाठकों को स्वीकार्य नहीं होता है। त्रिलोचन ने अनेक तरह की कविताएं लिखी हैं। गीत लिखे हैं, सानेट लिखे हैं, बरवै लिखे हैं, गजलें लिखी हैं और मुक्त छन्द की कविताएं लिखी ही हैं। मैं किसी कवि की स्थापना या विस्थापना के लिए कविताएं नहीं पढ़ता, बल्कि एक पाठक की हैसियत से उसके साथ हो लेने के लिए पढ़ता हूँ। इसलिए जिन कविताओं में संवेदना की गहराई मिलती है वे मुझे अधिक अपनी लगती हैं। जाहिर है कि अच्छी कविता संवेदना से गुजरती हुई वैचारिक दृष्टि को भी समृद्ध करती है। इसलिए मुझे त्रिलोचन के गीत सर्वाधिक अच्छे लगते हैं। त्रिलोचन ने बहुत सहज भाषा में सादगी के साथ लोक-भूमि पर छोटे-छोटे गीत लिखें हैं

जिनमें भावुकता का उफान कतई नहीं है, बल्कि ठोस संवेदनाओं की छोटी-छोटी दीप्तियां दीखती हैं। इन गीतों में मानव और प्रकृति सौन्दर्य के प्रति गहरा लगाव लक्षित होता है। कवि का सौन्दर्य-बोध परिवार तथा लोक की स्वस्थ भूमि पर छोटे छोटे बिम्ब रचता है। इन छोटे-छोटे गीतों में परिवेश के साथ जीवन जीने की एक ललक है। इसलिए इन सौन्दर्य-बिम्बों से जीवन-मूल्यों की उष्मा फूटती है। ये गीत या त्रिलोचन की अन्य कविताएं यदि प्रगतिशील हैं तो इसी अर्थ में कि उनमें कवि का यह सौन्दर्य-बोध है जो सबको साथ देखना चाहता है, जो खुली हुई जीवन-दायिनी प्रकृति या मनुष्य को छवि से बनता है और उसे अभिवयक्ति देता है। कवि स्वस्थ अनुभूतियों को एक मानवीय दृष्टि से रचता है जो हमारी मनुष्यता की प्रतीति को सघन कराती है।

त्रिलोचन प्रगतिवादी कवियों की पंक्ति में यदि अपने को नहीं पाते हैं। (प्रकतिशील कवियों की नयी लिस्ट निकली हैं। उसमें कहीं त्रिलोचन का तो नाम नहीं था) तो इसका कारण यही है कि पूर्ववर्ती प्रगतिवादी आलोचकों को इन कविताओं में स्थूल रूप से मार्क्सवादी ताना-बाना नहीं दिखाई पड़ा होगा। सच यह है कि त्रिलोचन चालू अर्थ में प्रगतिवादी कवि नहीं हैं। उनमें कहीं भी प्रगतिवादी नुस्खा दिखाई नहीं पड़ता। त्रिलोचन की ही तरह अनेक प्रगतिवादी कवि प्रगतिवादी कवियों की लिस्ट में शामिल नहीं किये गये तो इसी कारण कि उनमें प्रगतिवादी चेतना अंतर्भूत होकर आयी थी, स्थूल रूप से ऊपर लदी हुई नहीं। मार्क्सवादी आलोचकों की यह हठधर्मिता रही है कि वे अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए जिस जिस का इस्तेमाल करते रहे। प्रेमचंद, निराला तो प्रगतिवादी बना दिये गये किन्तु जो वास्तव में थे वे बाहर फेंक दिये गये। निराला या प्रेमचंद मार्क्सवादी खेमे में आकर बड़े रचनाकार नहीं हुए, वे अपनी गहरी मानवीय संवेदना, मानवीय दृष्टि और व्यापक अनुभूतियों के बल पर बड़े हुए। वे मार्क्सवादी दायरे में खड़े होकर रचना नहीं कर रहे थे बल्कि उनके रचनायें अपने समाज, समय और अखिल मनुष्यता से इतनी गहराई से जुड़ी हुई थीं कि मार्क्सवादी या प्रगतिवादी क्षेत्र में उनका सहज प्रसार हो जाता है। जहां निराला ठेठ प्रगतिवादी कवि बनते हैं वहां उनमें एक नया रंग तो है किन्तु ऊँचाई नहीं। इसीलिए डॉ0 रामविलास शर्मा ने उन्हें धरती का कवि कहा। तो प्रेमचंद, निराला या अन्य बड़े रचनाकार धरती के रचनाकार थे। त्रिलोचन भी धरती के रचनाकार हैं। त्रिलोचन भी धरती के कवि हैं। यह आकस्मिक नहीं कि उनके पहले कविता संग्रह का नाम 'धरती' है। यह और बात है कि धरती से जुड़ा रह कवि महान कवि नहीं होता। किन्तु यह हमारा अपना कवि तो लगता ही है। त्रिलोचन हमारे अपने कवि हैं। इस संदर्भ में मैं उनकी कई कविताएं रेखाकिंत करना चाहूँगा। वे हैं- 'नदी', 'कामधेनु', 'उनका हो जाता हूँ', 'दिन समय चलो', 'आज मैं अकेला', 'चौपालों में लग गयी है आग दिन की', 'बादल चले गये थे', 'एक पहर दिन आया होगा', 'हवा के समान दिन उड़कर चला गया', धूप सुंदर', 'सजी रहे आज तारे आधी रात', 'एक साथी'।

त्रिलोचन ने बाद में सानेट को अपना मुख्य छन्द बना लिया। उन्होंने थोक भाव के सानेट लिखे। अंगरेजी के छन्द सानेट को उन्होंने खूब साधा (छन्द, भाषा, सभी लक्ष्यों पर) इन सानेटों में विविध विषयों की अभिव्यक्ति हुई है। इनके विलोचन में अपने को भी खूब अभिव्यक्त किया है-कहीं अपनी दीन-हीन स्थिति का बयान किया है, कहीं अपने पुरूषार्थ का स्वर उभारा है, कहीं

आलोचकों पर चोट की है, कहीं अफवाहों का मजाक उड़ाया है, कहीं किसी सामाजिक स्थिति का विधान किया है और इस प्रक्रिया में इन्होंने बहुत कुछ गद्यात्मक कथ्य को वाणी दी है। गद्यात्मक कथ्य सधे हुए छन्द, सधी हुई भाषा के बावजूद हमारी संवेदना पर कोई प्रभाव नहीं छोड़ता। कविता एक वस्तुस्थिति का ज्ञान तो कराती है किन्तु हमारे भीतर नहीं उतरती। किन्तु त्रिलोचन के अनेक सानेट ऐसे हैं जिनमें उनके गीतों की सी गहरी संवेदनशीलता और सौन्दर्य-प्रतितियां हैं। संध्या के मेघों के कितने चित्र बनायें, 'हम दोनों हैं दुखी', 'तुम्हें याद हैं, 'गेहूं जौ के ऊपर सरसो की रंगीनी', 'भाषा की लहरें', आदि अनेक सानेट उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

त्रिलोचन की कविताएं जैसी भी हैं, सीधी सच्ची हैं। कविताओं की यह सिधाई और सच्चाई त्रिलोचन के व्यक्तिगत से जुड़ती है। जो इनके निकट संपर्क में रहे हैं (यह सौभाग्य कुछ-कुछ मुझे भी मिला है) वे जानते हैं कि त्रिलोचन क्या हैं? देहात के एक अति अभावग्रस्त परिवार के अभावग्रस्त व्यक्ति, अपने अभावों से लथपथ हो जीने के लिए, निरन्तर संघर्ष करते हुए व्यक्ति, इस जीवन-संघर्ष के भीतर से ही उन्होंने संस्कृत, हिन्दी (भाषा, साहित्य) का विपुल ज्ञान, जीवन के प्रारंभिक दौर में ही प्राप्त कर लिया। सन् 46 में जब उनके मेरी भेंट हुई तो ज्ञात हुआ कि उनका पहला संग्रह 'धरती' आ चुका था और भाषा साहित्य का विपुल ज्ञान उन्होंने प्राप्त कर लिया था। अच्छे से अच्छे कवि त्रिलोचन की राय को अहमियत देते थे और त्रिलोचन की प्रशंसा पाकर तृप्ति का अनुभव करते थे। व्यक्तित्व इतना बड़ा कि कई कई दिन तक भूखे रह जाने के बावजूद कभी किसी से कुछ मांगते नहीं थे। उन्हें कभी दीनता दिखाते देखा ही नहीं। उस अभाव में भी स्वाभिमान से सिर ऊँचा करके जीते उन्हें देखा है। उदग्र इतने कि बड़े से बड़े आदमी को ठेंगे पर रखे और स्नेह-शील इतने कि छोटे से छोटे आदमी के सच्चे दोस्त बन जायें और उसके सिर पर लदें नहीं, उसके मन के भीतर समा जाये। त्रिलोचन पंडित इतने बड़े से बड़े पंडितों को चुनौती दे दें और भोले इतने कि कोई भी उन्हें ठग ले। ठगी के भी कई ढंग होते हैं। एक ठगी साहित्यिक भी होती है। ये ठग अपने यश के लिए या कुछ पाने के लिए भोले-भाले यशस्वी लोगों के पास समय असमय चले जाते हैं और उनके समय की हत्या तथा उसके काम की हानी करते हैं। भोले शंकर त्रिलोचन जहां भी कार्यरत रहे, कुछ लोग उनके पास काम के समय में भी पहुंच जाते रहे और त्रिलोचन जी मुक्त मन से उनसे बातें करने लगते थे। यानी चौपाल जम जाती थी। इससे उस काम का हर्ज होता था जिसके लिए त्रिलोचन वहां होते थे। यह बात व्यवस्था को अप्रिय लगती थी। त्रिलोचन जी इस बात से अवगत रहे हों या ना रहे हों, उन्हें इसका खामियाजा उठाना पड़ता था। त्रिलोचन ने किसी भी अवस्था में अपनी मस्ती के तहत किसी व्यवस्था की परवाह नहीं की। क्या कर लोगे मेरा? मैंने तो अभावों और असुविधाओं से दोस्ती कर ली है। मैं अपना स्वभाव बदलकर तुम्हारे साथ नहीं रह सकता।

फिर भी त्रिलोचन के झूठ पर प्यार आता है। यह कैसा झूठ है जिसने किसी का अहित नहीं किया, बल्कि अपने रस से पूरे परिवेश को सींचा और जीवंत बनाये रखा। अपनी धरती और परिवेश से जुड़े त्रिलोचन के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति उनकी कविताओं में हैं, इसलिए उनमे सच्चाई है, सादगी है, लोकरस है। इन्होंने कविताएं अपनी अंत: प्रेरणा से लिखी है। जो बात इन्हें

मथ रही है उसे व्यक्त कर तृप्त होन के लिए लिखी है। आप चाहे उन्हें महान कवि कहें, चाहे सामान्य कवि कहें, उनके लिए कोई अंतर नहीं पड़ता। आप महान कहेंगे तो वे फूल कर कुप्पा नहीं होंगे, सामान्य कहेंगे तो क्रुद्ध या हताश नहीं होंगे, हर हाल में आंखों और ओठ पर एक विचित्र मुस्कान कसे आपको सुनते रहेंगे।

त्रिलोचन जी अपने प्रति बहुत निस्पृह व्यक्ति हैं। संस्कृत, हिन्दी, अंगरेजी के तमाम कवियों की तमाम कविताएं उन्हें याद हैं। उनके प्रशंसक नये लोग चाहें तो उनसे रीतिकाल की भी अनंत कविताएं सुन सकते हैं और कुछ सीख ले सकते हैं। यदि उनसे उनकी कविता सुनाने का आग्रह करेंगे तो निराला की या तुलसी की या अन्य किसी की अनेक कविताएं सुना जायेंगे और यह भी बता सकत हैं कि किस कविता में कहां कामा है, कहां पूर्ण विराम है लेकिन अपनी कविता नहीं सुनायेंगे। और मूड बन गया तो अपनी कविताएं एक के बाद एक सुनाते ही चले जायेंगे। आप चाहेंगे कि बस करें तो भी बस नहीं करेंगे। दो प्रसंग देना चाहता हूँ। तब मैं गुजरात में था। वहां से दो दिन के लिए बी0 एच0 यू0 गया था। डॉ0 रामअवध द्विवेदी के यहां एक साहित्यिक गोष्ठि का आयोजन था। उसमें हजारी प्रसाद द्विवेदी समेत अनेक वरिष्ठ प्रोफेसर तो थे ही, नयी पीढ़ी के भी अनेक प्रतिष्ठित लेखक थे। त्रिलोचन जी भी थे। हम सभी कविता पढ़ चुके तो त्रिलोचन जी से कविता पढ़ने का आग्रह किया गया। वे कुछ बोले ही नहीं। आग्रह पर आग्रह होते रहे, वे चुपचाप मुस्कुराते रहे। नामवरजी ने या किसी और ने उनकी एक गजल गलत ढंग से पढ़ी ताकि वे उसे ठीक करने की गर्ज से ही कुछ बोलें। लेकिन फिर भी शास्त्री जी शरारत से मुस्कुराते रहे। गजल थी 'उनसे आया न गया, उनसे बुलाया न गया।' फिर आचार्य द्विवेदी बोले- 'इनसे खूला न गया, इनसे खुलाया न गया।' एक ठहाका पड़ा और त्रिलोचन जी फिर भी मुस्कुराते रहे। दूसरा प्रसंग है-सन् 53 या 54 में सत्यार्थी बनारस गये थे। ठाकुर प्रसाद सिंह के यहां ठहरे थे। उस समय 'आजकल' का भारतीय कविता विशेषांक निकाल रहे थे। उन्होंने इसके लिए एक कविता मेरी ली, कुछ और कवियों से ली। त्रिलोचन जी से भी एक कविता (सानेट) लेनी थी। त्रिलोचन जी बोले- आपको कुछ सानेट सुनाता हूँ छांट लीजिए। उन्होंने दो चार ही सानेट सुनाये होंगे कि सत्यार्थी जी ने कहा-'बस-बस छांट लिया। बस कीजिए।' किन्तु त्रिलोचन जी ने बस नहीं किया, सानेट पर सानेट सुनाते गये, सुनाते गये और सत्यार्थी जी 'बस-बस' चिल्लाते रहे। काफी देर के बाद त्रिलोचन जी ने जान बख्शी।

त्रिलोचन जी अपने समय में लीजेंड बन गये। उनके बारे में इतनी कहानियाँ प्रचलित हो गयीं कि क्या सच है क्या झूठ है पता लगाना कठिन हो गया। वे अपने बारे में खुद तमाम् कहानियां फैलाते थे। यह प्रसिद्ध हो गया कि वे 99 प्रतिशत झूठ बोलते हैं। एक बार मैंने किसी घटना के बारे में उनसे पूछा- 'शास्त्री जी, यह 99 प्रतिशत वाला है कि एक प्रतिशत वाला। उन्होंने बड़ी गंभीरता से कहा-'नहीं भाई यह 1 प्रतिशत वाला है।'

डॉ. रीतारानी पालीवाल, सेनानिवृत्त प्रोफेसर, इ.ग.रा.मु. विश्वविद्यालय, दिल्ली सम्प्रति–सचिव सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली।

जयशंकर प्रसाद और मोहन राकेश के नाटक : अन्तः सम्बंध की तलाश

डॉ. रीतारानी पालीवाल

प्रसाद और राकेश के नाटकों में कुछ बुनियादी समानता के बिंदु हैं जो इन्हें गहन काव्यात्मकता प्रदान करते हैं और जिन्हें आलोचकीय तर्कों के आधार पर भले ही अवगुण सिद्ध कर दिया जाए, रंग सृष्टि की प्रक्रिया में वे अपनी पूरी शक्ति के साथ निखर कर सामने आ जाते हैं और दर्शक उनसे तादात्म्य स्थापित कर लेता है।

जयशंकर प्रसाद और मोहन राकेश के नाटकों की प्रस्तुतियों के इतिहास पर नजर डाले तो हम पाते हैं कि किसी प्रस्तुति पर बातचीत करने का अर्थ है निर्देशक द्वारा नाटक के अर्थ-निर्णय की तह तक पहुँचना और यह देखना कि नाटककार की मूल अर्थव्ययंजना से निर्देशक कितना अलग गया है या कितना नजदीक रहा है। प्रस्तुतियों का यह मोटा खाका कई पक्ष हमारे सामने उजागर करता है। सर्वप्रथम तो यह प्रसाद के नाटकों को लेकर उठे विवादों और आक्षेपों पर पुनर्विचार ही करने को मजबूर नहीं करता, एक ढ़ंग से उन आक्षेपों को बेमाने सिद्ध करता है। प्रसाद के नाटकों के अनभिनेय कह कर जो भ्रम फैलाया गया था वह कितना सतही था यह इस बात से सिद्ध होता है कि प्रसाद के जीवन काल में ही विभिन्न नाट्य मंडलियों तथा शैक्षिक संस्थाओं ने उनके नाटकों की प्रस्तुतियाँ की थी जिनमें से कई के पूर्वाभ्यासों में प्रसाद स्वयं मौजूद रहे थे। चालीस और पचास के दशक में इनकी प्रस्तुतियाँ अपेक्षाकृत कम रही लेकिन कालांतर में हिंदी के रंग कर्म की सक्रिय शुरूआत के बाद प्रसाद के नाटकों का मंच शिशशिलेबार तौर पर शुरू हुआ। हिन्दी के लगभग सभी निर्देशकों और प्रख्यात

अभिनेताओं ने अपनी क्लासिक धरोहर से जुड़ना अपना दायित्व समझा। दृश्य-विधान, गीत संख्या, भाषा की अभिनेयोपयुक्तता आदि को लेकर प्रसाद के प्रति जो अनजानी भूल हमारे बड़े से बड़े आलोचकों से हुई उसका उत्तर हिंदी रंगकर्मियों ने अपनी प्रस्तुतियों से अनायास ही दे दिया। इतना ही नहीं, नाट्य प्रस्तुतियों के इस रिकॉर्ड को देखने से दिलचस्प बात यह उभर कर आती है कि 'आषाढ़ का एक दिन' को लेकर भी आरंभ में करीब-करीब वैसे ही आक्षेप एक बार फिर उठाए गए जैसे प्रसाद के नाटकों को लेकर उठाए गए थे। लखनऊ में होने वाली प्रस्तुति से पहले उठे विरोधों ने मोहन राकेश को काफी आहत किया था। इसका जिक्र उन्होंने अपनी डयरी में किया है, डायरी के उन अंशों को हम पीछे उद्धृत कर चुक हैं। यह भी चर्चा कर चुके हैं कि कलकत्ता में अनामिका द्वारा प्रस्तुति से पूर्व इसकी संस्कृतनिष्ठ भाषा और कालिदास के चरित्र सृष्टि को लेकर इसकी प्रस्तुति पर प्रश्न चिन्ह लगाया गया। यहाँ तक कि यह नाटक अभिनेय हैं या नहीं इसे लेकर एक परिसंवाद गोष्ठी करनी पड़ी थी जिसमें विचारोपरांत कहा गया कि यह तो अभिनय के बाद ही तय किया जाएगा कि अभिनेय हैं या नहीं। लेकिन जब यह नाटक प्रस्तुत हुआ तो अपने आप में एक अभूतपूर्व उपलब्धि सिद्ध हुआ और सभी आक्षेप स्वत: निर्मूल सिद्ध हो गए।

प्रसाद और राकेश के नाटकों में कुछ बुनियादी समानता के बिंदु हैं जो इन्हें गहन काव्यात्मकता प्रदान करते हैं और जिन्हें आलोचकीय तर्कों के आधार पर भले ही अवगुण सिद्ध कर दिया जाए, रंग सृष्टि की प्रक्रिया में वे अपनी पूरी शक्ति के साथ निखर कर सामने आ जाते हैं और दर्शक उनसे तादात्म्य स्थापित कर लेता है।

रंग प्रस्तुतियों का रिकॉर्ड यह भी सिद्ध करता है कि प्रसाद के नाटक यदि बीस वर्ष बाद यानी 50-60 के दशक में लिखे गए होते तो उनकी स्थिति कुछ और होती। संपन्न हिंदी रंगमंच उन्हें आदरपूर्वक लेता और प्रसाद जी को रंग प्रक्रिया से जुड़ने का और नाटकों को सँवारने-सुधारने का व्यापक अवसर मिलता। दूसरी ओर, यदि मोहन राकेश बीस वर्ष पहले हुए होते और उन्हें जैसा सक्रिय रंगमंच मिला था वैसा न मिलता तो हो सकता है कि वे 'आधुनिक हिंदी नाटक के मसीहा' न सिद्ध हो पाते।

यहीं एक और तथ्य उभर कर सामने आता है कि व्यावहारिक रंगमंच की आलोचना सदैव सकारात्मक प्रभाव ही नहीं डालती, इसके नकारात्मक पक्ष भी होते हैं। इस बात का एक उदाहरण तो प्रसाद का है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक के अभिनय के दौरान रत्नाकर रसिक मंडल के सदस्यों द्वारा रखी गई समस्याओं को लेकर प्रसाद जी ने चंद्रगुप्त नाटक की मंचीय स्क्रिप्ट तैयार की जो 1977 में 'अभिनय चंद्रगुप्त' नाम से प्रकाश में आई। यहाँ वास्तव में मूल नाटक में किए गए परिवर्तनों की प्रक्रिया में नाटक को बहुत कुछ खोना पड़ा है- प्रसाद का अपना ओज और औदात्य भी। दूसरा उदाहरण मोहन राकेश का है जो 'आषाढ़ का एक दिन' की कई प्रस्तुतियों में नाटक के बदले स्वरूप को लेकर अत्यधिक आहत हुए।'

नाटककार और रंगकर्मियों के स्वस्थ संबंधों और आदान-प्रदान की प्रक्रिया का सबसे

अच्छा उदाहरण 'लहरों के राजहंस' का है। श्यामानंद जालान ने राकेश के समक्ष अनेक प्रश्न और समस्याएँ प्रस्तुत कर नाटक को अपने वर्तमान स्वरूप में पहुँचने में महत्वपूर्ण योगदान दिया, जबकि 'चन्द्रगुप्त' के अभिनय की प्रक्रिया में प्रसाद जी से हुई लक्ष्मीकांत झा तथा अन्य रंगकर्मियों की बातचीत के दौरान सुझाए गए परिवर्तनों ने नाटक के पाठ को क्षति पहुँचाई।

प्रश्न उठता है कि प्रसाद और मोहन राकेश के बीच जो एक गहरा अंतर्संबंध रहा है उसके आंतरिक स्त्रोंतों की छानबीन कैसे की जाए। आज के युग में कई आलोचना दृष्टियाँ सक्रिय हैं और इन आलोचना दृष्टियाँ सक्रिय हैं और इन आलोचना दृष्टियों के सामने कदाचित वे समस्याएँ हैं जो आज से तीन-चार दशक पहले की आलोचना में न थी। आ रचनाकार की आंतरिक प्रेरणाओं पर कई कोणों से विचार करना हमारी मजबूरी मात्र नहीं है सत्य को नए ढ़ंग से पाने की तैयारी है। प्रसाद ने स्वाधीनता आंदोलन की चेतना को आगे बढ़ाने के लिए इतिहास की अपनी संवेदनाओं में पुनर्रचना की। इन संवेदनाओं के कार्य-कारणों के विश्लेषण की ओर आज हमारा ध्यान जाना स्वाभाविक ही है क्योंकि इनमें रचनाकार प्रसाद की मानसिकता का तात्विक आधार निहित है। आज तो हम राष्ट्र, राष्ट्रभक्ति, देशभक्ति के स्वरूप निर्धारण में हिचकिचाने से लगे हैं क्योंकि आज की राजनीति ने इस अवधारणाओं को मैला कर दिया है। स्वतंत्रता-पूर्व जो मुद्दे प्रसाद जी उठा रहे थे (उदाहरण के लिए, - जैसे, 'मालव और मागध को भूलकर जब तुम राष्ट्र का नाम लोगे तभी वह मिलेगा। जैसे बुनियादी सरोकार) वे मानो आज हमारे हाथ से छूट गए हैं। प्रसाद के लिए राष्ट्र एक भरा-पूरा प्रतीक है, वह जमीन का एक सताया हुआ टुकड़ा नहीं है, न वह अतीत है जो हम से दूर लेकिन आजादी के बाद का आधुनिक बुद्धिजीवी धीरे-धीरे इन शब्दों के आंतरिक अर्थ-संदर्भ को ही भूलने लगा। उसके लिए ये शब्द एक सस्ती भावुकता रह गए। इन शब्दों के पीछे निहित त्याग का अहसास ओझल होने लगा। मोहन राकेश की पीढ़ी पूछने लगी कौन स्वतंत्र हुआ और अगर स्वतंत्र हुआ तो उसने आज़ाद भारत को क्या दिया? कई बार तो वह पीढ़ी स्वाधीनता आंदोलन को ही हिकारत की दृष्टि से देखने लगी। दर अस्ल धर्मवीर भारती और मोहन राकेश की पीढ़ी के सामने नेहरू युग का घिरता-उमड़ता अवसाद प्रबल होने लगा। मूल्यांधता इस कदर फैली कि व्यक्ति अपने क्षुद्र स्वार्थो के लिए दूसरों का भावनात्मक संवेदनात्मक शोषण करने लगा। मोहन राकेश का कालिदास एक खास अर्थ में इसी तरह का प्रतीक है जो मल्लिका का संवेदनात्मक शोषण करता है और उसके लिए कतई मूल्य चुकाने को तैयार नहीं। प्रसाद के नाटकों के 'हम' में भारतीय चिंतन परंपराओं का ऐसा विस्तार है कि इसमें 'अन्य' 'हम' से अलग नहीं है। परंतु मोहन राकेश तक आते-आते हमारे 'हम' से 'अन्य' का निष्कासन तो नहीं हुआ लेकिन उसके लिए जगह बहुत कम रह गई।

प्रसाद और राकेश के बीच यह जो युग परिवर्तन घटित हुआ वह दिखाई मामूली देता है लेकिन असलियत में मामूली नही है। दोनों नाटककारों की मानसिकताएँ अलग-अलग दिखाई देती हैं लेकिन गहरे बहुत में अलग नहीं हैं। बहुत गहरे में राकेश भी प्रसाद के देश-प्रेम की परंपरा को

आगे पढ़ाते हुए नाटककार हैं। अपने देश की प्रकृति और मनुष्य से उन्हें बहुत गहरा अनुराग है। इसलिए उन्होंने जो प्रतीक चुने हैं – चाहे वे बौद्ध युग के प्रतीक ही क्यों न हों– उनमें निर्मल दृष्टि रखने वाले हंस, सरोवर और कमल जैसे प्रतीक घटना के रूप में प्रस्तुत होते हैं। राकेश ने प्रसाद से यह सीखा है कि भावनाएं भी घटनाएं होती हैं और आत्मा की घटनाएं। देशप्रेम एक ऐसी घटना है जिसके भीतर हमारा सब कुछ निवास करता है। देश के प्रति लगाव, देश की प्रकृति के प्रति लगाव, मानव मन के इतिहास की वह घटना है जिसे न गणित से गिना जा सकता है और न भूगोल से जिसे नापा जा सकता है निर्मल वर्मा के शब्दों में – 'अंततः वह एक स्मृति है व्यक्तिगत जीवन से कहीं अधिक विराट और समय की सीमाओं से कहीं अधिक विस्तीर्ण। हमारे समस्त पूर्वजन्मों का पवित्र स्थल जहाँ कभी हमारे पूर्वज और पुरखें रहते आए थे।'

सच बात यह है कि घटना भावना का मूत्र रूप है और भावना घटना का धड़कता हुआ संसार। इस भावना के भीतर ही नर–नारी का प्रेम एक चिरंतन घटना बनकर अमरत्व को प्राप्त होता है। चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त, पर्णदत्त, मालविका, देवसेना की देशभक्ति काा विस्तार मल्लिका, कालिदास, सुंदरी, नंद जेसे पात्रों में गहरे खाई–खंदकों के साथ घटित होता है। उनमें परंपरा को नई दिशा में बढ़ाने का प्रयत्न है। राकेश ने प्रसाद की परंपरा को इसी अर्थ में आगे विकसित करते हुए उसे व्यक्ति स्वातंत्र्य से जोड़ दिया जहाँ समूह नहीं व्यक्ति है और यह व्यक्ति अगर समूह के विरोध में नहीं खड़ा होता तथा अपने व्यक्तित्व का विस्तार करता है तो यह सामूहिकता के विरोध का सिद्धांत नहीं है। इसमें व्यक्ति की सर्जनात्मकता या रचनाशीलता का विचारों की नई हवा से पैदा होने वाला खुलापन भी है।

प्रसाद की जीवन–दृष्टि के बहु–आयामी कोण युग, समाज और व्यक्ति तीनों को एक महाकाव्यात्मक परिप्रेक्ष्य प्रदान करते हैं। इन बहुआयामी कोणों में एक ओर तो कर्म सौंदर्य परंपरा की ध्वनि है तथा दूसरी ओर गीता का युद्ध–न्याय दर्शन। प्रसाद की संवेदना के कई स्तर युद्ध से जुड़े हैं, उनके ऊपर जितना प्रभाव तिलक का है उतना गांधी का नहीं। न्याय के लिए युद्ध प्रसाद की मूल अंतर्ध्वनि है। 'स्कंदगुप्त' नाटक में प्रसाद की यह मानसिक स्थिति स्पष्ट है – 'समझ में तो इतनी बात आ गई कि लड़कर लेना ही एक प्रधान स्वत्व है संसार में इसी का बोलबाला है। संसार और युद्ध इन दोनों का भाष्य प्रसाद राष्ट्र के स्तर करते हैं – राष्ट्र की स्वाधीनता और अखंडता के लिए मगध–मालव एकता और साम्राज्यवादी स्थितियों से मुकाबले के लिए कश्मीर आदि प्रदेशों का शकों और हूणों से युद्ध। राष्ट्र की एकता में बाधक इसी देश में मौजूद पुष्यमित्र जैसे गुप्त साम्राज्य के शत्रु हैं । समाज में जो जातिवादी विद्वेष उमड़ रहा था उस सांप्रदायिक राजनीति से भी प्रसाद बेखबर नहीं थे। 'स्कंदगुप्त' में ब्राह्मण–बौद्ध विवाद, जाति ओर संप्रदाय विद्वेष की कई तरह की ध्वनियाँ लिए हैं। कुचक्र और षडयंत्रों की राजनीति से प्रसाद कम सतर्क नहीं है। सम्राट कुमारगुप्त की पत्नी अनंतदेवी महाबलाधिकृत भटार्क और बौद्ध भिक्षु प्रपंचबुद्धि राष्ट्रीय शक्तियों के नाश के लिए षडयंत्र करते हैं। स्कंदगुप्त को अपदस्थ करने के लिए जो ताना–बाना बुना जाता है उसकी

ईर्ष्या-द्वेषपरक राजनीति कई नए अखाड़ों को जन्म देती है। राजनीति का स्वर भारतेंदु के नाटकों में भी कम न था और इसी स्वर का विस्तार प्रसाद ने अपने समय की राजनीति को लेकर नाटकों में किया। ऊपर से ये नाटक ऐतिहासिक-सांस्कृतिक हैं, लेकिन वस्तुत: इनकी बनावट में राजनीति की प्रतिध्वनियाँ निहित हैं। मोहन राकेश ने प्रसाद से इस क्षेत्र में भी कम नहीं सीखा है। संस्कृति अतीत और इतिहास के ताने-बाने से बने राकेश के नाटक अपनी राजनीतिक प्रतिध्वनियों में अर्थ के कई स्तरों का स्पर्श करते हैं। राजनीति के स्तर पर साम्राज्य और सत्ता के ..... उनके नाटकों में प्राय: प्रत्यक्ष भूमिका रखते हैं। इतिहास इस बात का प्रमाण है कि अतीत के अनुमान मनुष्य को धर्म और देश की राजनीति का एक नया पाठ पढ़ाते हैं। इसलिए युद्ध बाहर ही नहीं होता भीतर भी होता है। प्रसाद के पात्रों का अंतर्जगत युद्ध से भरा हुआ है जिसमें देवसेना और स्कंदगुप्त विजया और भटार्क, मालिनी और मातृगुप्त, - सभी अपने7अपने ढ़ंग से सक्रिय है। मोहन राकेश में मल्लिका और कालिदास के बीच भी एक मौन युद्ध है और वहीं युद्ध नंद तथा सुंदरी में सावित्री और महेंद्रनाथ में अनिश्चय और आशंका की स्थितियां लेकर चलता है। दोनों नाटककारों ने मानव मन के उतार-चढ़ाव के लिए जीवन की जटिल और गंभीर स्थितियों को एक नए भाव-विधान में ढ़ाला। इससे दोनों के नाटकों में विविधता और विस्तार तो आया ही जीवन के कई विभावन व्यापार नजदीक आ गए। दोनों ही अपने महाकाव्यत्मक परिप्रेक्ष्य के लिए हिंदी नाट्य परंपरा में अवस्मिरणीय रहेंगे।

राकेश ने वर्तमान के परिप्रेक्ष्य पर अपने को अधिक केंद्रित किया। जीवन का कठोर प्रत्यक्षवाद और यथार्थवाद आजादी के बाद अपनी जगह बदलता है। कविता में 'चाँद का मुहँ टेढ़ा है' (मुक्तिबोध) 'तूस की आग' (भवानी प्रसाद मिश्र), 'खूँटियों पर टँगे लोग' (सर्वेश्वर दयाल सक्सेना), 'आत्महत्या के विरूद्ध' (रघुवीर सहाय), 'संसद से सड़क तक' (धूमिल), 'एक अग्निकांड जगह बदलता हुआ 'और नाटकी जारी है' (लीलाधर जगूड़ी) जैसे मुहावरे उस समाज का ही संकेत है जिसे मोहन राकेश कारक रूप से ग्रहण कर रहे थे। त्याग से भरा हुआ स्त्रियों का एक वर्ग प्रसाद की उसी भावना का विस्तार है जिसे 'कामयानी' में 'कर रही लीलामय आनंद / महा चिति सजग हुई सी व्यक्त' कहा गया है। मोहन राकेश के नाटाकें में भी नारी जीवन की मूल राग शक्ति है, जीवन के संपूर्ण सौंदर्य को समेटे हुए। अपने सुख-दुख की ज्वालाओं में जलती हुई वह कामना के कोणों को कुंठित नहीं होने देती। देवसेना का एक नया रूपांतरण है मल्लिका- एक निष्कंप भावना की वैचारिक प्रतिष्ठा। जब हम इन दोनों नारियों की तुलना करते हैं तो प्रसाद और राकेश की मनोभूमिका के अंतर्संबंध धूप की तरह साफ दिखाई देते हैं। हिंदी समीक्षा में मोहन राकेश को लेकर नर नारी संबंधों का नारा बहुत उगला गया जबकि यह नारा संतही और छिछल था क्योंकि जीवन ही नर-नारी का पर्याय है और जीवन का पूरा दृष्टिकोण इन दोनों की केंद्रीय स्थिति से ही जुड़ा है। यदि इन दोनों में 'जो आकर्षण बन हँसती थी। रति थी अनादि वासना वही की धारा ही खंडित हो गई तो फिर रह गया? न कालिदास कालिदास रहेंगे न मल्लिका। टूअ कर जुड़ने वाला भारतीय मन अपनी पूरी दृष्टि और सृष्टि के साथ प्रसाद और राकेश दोनों में मौजूद हैं। यह ठीक है

कि राकेश प्रसाद की तरह प्रत्यभिज्ञान दर्शन में नहीं गए। इसका मूल कारण तो यह है कि राकेश के युग के अंतर्जगत में दश्नन के लिए जगह ही नहीं थी। राकशे का यूग आजादी के बाद का सवेरा था जिसमें नए सपनों के मृगछौने छलाँग भर रहे थे। यह अलग बात थी कि नेहरू गुय में वे सपने जल गए और मृग छौने विदेशी स्थितियों के प्रभाव से न जाने कहाँ भाग गए। नेहरू युग का पूरा मोहभंग राकशे के मनोजगत में भावनाओं का संघातक प्रभाव छोड़ता है। स्कंदगुप्त और देवसेना की सूक्ष्म तथा संश्लिष्ट दृष्टि का स्थान सावित्री और महेंद्रनाथ ले लेते हैं। जिनके पास न एक दूसरे को छोड़ने की गुंजाइश ही है और न ही वे एक दूसरे से जुड़कर जीवन की अद्वैत भावनामूलक सिद्धि पा सकते हैं। दोनों एक दूसरे से ऊब और थक कर खंड खंड हो गए हैं। दोनों की स्थिति का दृश्यांकन बड़ा ही दारूण है।

प्रसाद और राकेश के बीच एक तरह का यह विश्वास भी दिखाई देता है कि संस्कृति स्मृति और इतिहास से अंतर्गुफित रचनात्मक शक्ति है। जिस जाति की स्मृति नष्ट हो जाती है उसका पूरा इतिहास तो विस्मृति के अंधेरे में चला ही जाता है, वह अपनी परंपरा से भी हाथ धो बैठती है। इसलिए दोनों नाटककारों का देश के साथ प्रेम-प्रसंग इकहरा या दोहरा नहीं है, उसके कई स्तर हैं। आज हम इसे राष्ट्र की संकल और संकीर्ण अवधारणा से बहुत भिन्न अर्थ में ग्रहण कर सकते हैं क्योंकि हमारे मिथकों के भूखंड सेकुलर नहीं है, उनमें कहीं न कहीं भारत अपनी पूरी अवधारणा के साथ प्रकट होता है। और स्पष्ट शब्दों में कहें तो इतिहास की देह पर संस्कृति के जो स्मृति स्थल बने हैं उनकमें कवेल पत्थर का देवता ही जीवित नहीं है, आत्मा का वह देवता भी जीवित हैं जो नदी, पर्वत, गुफा, जंगल आदि के माध्यम से स्त्री-पुरूष के अंतर्काव्यात्मक प्रतीकों, बिंबों, मिथकों, अभिप्रायों में आत्म-विस्तार पाता है। राष्ट्र यदि अपनी सांस्कृतिक जड़ों से कट जाता है उसके सभी जीवंत प्रतीक मुरझाने लगते हैं। प्रतीकों के लिए संघर्ष प्रसाद और मोहन राकेश दोनों में एक गहरी समानता का बोध कराता है।

मोहन राकेश का युग उनकी मनोभूमिका को जिस ढ़ंग से प्रस्तुत करता है उसमें सर्जनात्मक संकट के कई बिंदु एक-साथ उठ खड़े होते हैं। आज़ादी के बाद साहित्यिक प्रश्नों को लेकर जो बड़े परिसवाद आयोजित हुए उनके केंद्र में मोहन राकेश रहे। बदलते समय के संदर्भ में नए मानव-मूल्यों की चिंता, शब्द की खोज और उसके संस्कार की स्थिति पर नए ढ़ंग से चिंतन शुरू हुआ। लेकिन आजादी के बाद जो पारिवारिक विघटन पैदा हुआ उसने व्यक्ति को उसके पूरे सामाजिक परिवेश से झकझोर कर भयभीत कर दिया। प्रसाद के समय में व्यक्ति और समाज के बीच की दरार इतनी गहरी न थी। वहां 'घने प्रेम तरू तले' गीता गाने की गुंजाइश थी। लेकिन अब प्रेम के नाम पर नई स्थिति-परिस्थिति पैदा हो गई। राकेश ने लिखा है - 'सामाजिक परिवेश इस बीच इतनी तेजी से बदला है कि साहित्यिक मूल्यों को सहारा देने वाली संस्कारगत मान्यताएं इस बुरी तरह टूटी हैं कि कहीं लगता है कि उन मानव-मूल्यों के किसी हाशिए के आसपास आज साहित्य रचना संभव ही नहीं है। इसलिए पिछले कुछ वर्षों की रचनाओं में बाहरी विघटन और

अंदरूनी तोड़-फोड़ की स्वीकृति तो है। इस परिस्थिति से आगे निकल कर इसे किसी तरह के रचनात्मक संगठन में बदल सकने का प्रयत्न नहीं है। (आज का वास्तविक रचना संकट)

इसलिए मोहन राकेश के सामने सबसे बड़ा रचनात्मक संकट था शब्दों की रचनात्मक सार्थकता को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्नं इसके लिए राकेश ने चुप्पी नहीं साधी। इस संकट को शब्द देने के लिए आंतरिक प्रयोग किए। इन प्रयोगों में परंपरा की परिधि पर चक्कर नहीं काटा गया। प्रयत्न यह किया गया कि परिवर्तन के ढ़ाँचे को समझते हुए मानव के पारस्परिक संबंधों को सही या गलत ढ़ंग से परिभाषित तो किया जाए ताकि जिन सांस्कृतिक मान्यताओं की चूलें उखड़ गई हैं उन्हें फिर से ठोक-ठॉक कर आकार तो दिया जा सके। प्रसाद के लिए सांस्कृतिक सर्जनात्मकता का प्रश्न इतिहास की महिमा और महत्ता से जुड़ा था, लेकिन राकेश के लिए सर्जनात्मकता का संकट एक ऐसा संकट था जो बाहरी और भीतरी विघटन मूर्त करने के लिए हर संभव प्रयत्न करता था। जो संस्कार थे उनमें मुक्ति का एक बीज भाव था और संकट था आर्थिक-व्यावसायिक। रोजी-रोटी की समस्या के लिए राकेश का भटकना अपने आप में एक पाठ है और उस पाठ का अंतर्भाष्य बहुत विशिष्ट। आर्थिक संघर्ष का यह संकट ही बाद में 'आधे-अधूरे' बना, विचार का संकट 'लहरों के राजहंस'। सृजन में प्रेरणा बनने वाली नारी का संकट 'आषाढ़ का एक दिन' में अंतत: आर्थिक संकट से दूर नहीं रह पाया। दरिद्रता जिस बड़े दुख का सृजन करती है उसके प्रति तटस्थता नहीं रखी जा सकती क्षमता ही नहीं है कि हम उससे निरपेक्ष रह सकें। इसलिए वह एक वास्तविकता है और इस वास्तविकता को अंबिका थोड़े से शब्दों में प्रकट करती है - गागर में सागर भरकर। भूख और आर्थिक संकट प्रसाद के नाटकों में भी कम नहीं है। अन्नमय कोष के बिना आनंदमय कोष होता ही नहीं- यह प्रसाद की स्थापना है और इस स्थापना से राकेश की असहमति नहीं है। आर्थिक संकट राकेश के नाटकों में असंबद्धता, अकेलापन, हीनता, व्यर्थता, हताशा, कलह, असंगतता और परस्पर मुँहजोरी, जीने के प्रति विरक्ति तथा पूरी तरह टूट जाने वाली मानसिकता के प्रश्नों से ही नहीं जुड़ा है वह विवशता की एक ऐसी अनुभूति है जो सभी मूल्यों से जुड़े संस्कारों को चुनौती है।

हिंदी आलोचकों ने इस संकट की व्याख्या मोहन राकेश के नाटकों को मानववाद और अस्तित्ववाद से जोड़ कर की है। लेकिन राकेश में कवेल अस्तित्ववाद नहीं है, जीवन में प्रति पैदा होने वाली अनास्था और वितृष्णा केवल असामाजिक होकर जीने का ही दर्शन नहीं है बल्कि इस असामाजिकता के पीछे जीवन में बहुत कुछ छूट जाने का करकता हुआ अनुभव भी है। स्थितियों के सामने यह आत्म-समर्पण नहीं है, वह कोशिश है जो वास्तविक संकट का साक्षात्कार कराती है और यह साक्षात्कार समझौता नहीं हे, तार्किकता से उपजा वह बोध है जो समझदार मनुष्य की पीड़ा को बढ़ा देता है। राकशे यह मानकर चले थे कि अनास्था सत्य नहीं है। सत्य है- सर्जनात्मक आस्था। इसलिए पश्चिमी ढ़ंग के अस्तित्ववाद को उन्होंने अपने नाटकों में पास नहीं फटकने दिया और न उस मनुष्य को जो अस्तित्वाद ने पैदा किया था। प्रमाण के लिए उनकी डायरी का यह

कथन- 'नीत्से के मनुष्य की कल्पना बहुत एकांगी है। मेरे विचार में मनुष्य का वास्तविक स्वरूप यह है कि वह ईश्वर के सामने समर्पण न कर दे।'

यहाँ भगवान के सामने समर्पण का अर्थ भगवान और उसकी भक्ति से बचना नहीं और न समर्पण का अर्थ गीता के उस अर्थ से काटता है जिसमें कहा गया है कि सभी धर्मों को छोड़कर 'मामेकं शरणं ब्रज' - ब्रज का वह वैष्णव भाव जिसमें एक विराट शक्ति को अपने को सौंप कर निश्चिंत हो जाने का भाव है। इसलिए राकेश आधुनिकता और आधुनिकतावादी अर्थ से आत्मसमप्रण को नहीं जोड़ते। वह लिखते हैं- 'सर्जनात्मक साहित्यकार यदि इस जीवन की आस्था के स्वर को नहीं पकड़ सकता, तो वह आधुनिकता के अपने सारे दावों के बावजूद आज का नहीं है क्योंकि आधुनिकता का जो अर्थ युद्धोत्तर काल में था वह आज नहीं है। बीते कल की तरफ मुँह किए आज की दहलीज पर खड़े होना आज से संबंद्ध होकर जीना नहीं है। आज से संबंद्ध होने का केवल एक ही अर्थ है और वह है आने वाले कल की दिशा में देखते हुए आज की दहलीज छोड़ने का प्रयत्न। इसी से आज के जीवन की सर्जनात्मक संभावनाओं को पहचाना और समझा जा सकता है। (आज का वास्तविक रचना संकट)

इस कथन की मोटी-मोटी चार ध्वनियाँ हैं - (1) अतीत के मोह से मुक्त होना (2) आस्था का वरण करना (3) वर्तमान के संकटों को झेलकर उसके गतिशील यथार्थ का अनुभव करना (4) जीवन की सर्जनात्मक संभावनाओं की पहचान। मोहन राकेश का सृजनशील मन स्थितियों, परिस्थितियों और मन:स्थितियों से न केवल परिचित है वरन अपने भीतर वह उस तनाव का अनुभव करता है जो उसके भीतरी और बाहरी द्वंद्व की उपज है। यह तनाव कभी प्रणय जीवन को लेकर, कभी अपूर्तिग्रस्त व्यक्ति मानस को लेकर, कभी सामाजिक-राजनीतिक प्रतिष्ठाओं को लेकर उत्पन्न होता है। उनके आसपास के जीवन और सामाजिक स्थिति में सुख के सपने देखना संभव नहीं है, इसलिए यह तनाव आत्मालोचन से ज्यादा आत्मविश्वास के लुप्त होने से उत्पन्न हुआ है। नाटकों में बात वे आस्था और प्रेम की करते हैं पर यह तो नाटकों का ऊपरी पाठ है। जो इन नाटकों का आंतरिक पाठ है उसमें यह तनाव सामाजिक प्रश्नों के साथ जुड़ा हुआ है जिसमें अम्बिका, मल्लिका, नंद, सुंदरी, सावित्री, महेंद्रनाथ -- सभी अपने-अपने प्रश्नों के साथ उपस्थित हैं। इस समाज में सभी पात्रों का वैविध्यमय जीवन उनकी वैयक्तिक संवेदनात्मक प्रतिक्रिया है। यह वैविध्यमय जीवन विषम है और यह विषमता ही तनाव को जन्म देती है। मूल ध्वनि यह कि मोहन राकेश के नाटक अपने युग और परिवेश के साथ द्वंद्वमय रूप में स्थित हैं। यह अलग बात है कि मोहन राकेश ने समाज के नए विषय, नई पद्धति में ढ़ालकर नई प्रतीक योजना के साथ प्रस्तुत किए और संदर्भों में बहुलतार्थकता पैदा की। 'अषाढ़ का एक दिन', 'आधे अधूरे', 'लहरों के राजहंस' तीव्र संवेदना घातों के वे गीतात्मक स्वर हैं जिनमें गहरी वेदना की झनझनाहअ है कामा, ध्रुवस्वमिनी और देवसेना की वेदना का यह नया युगीन रूपांतरण है। भावाकुल उच्छलता का स्थान अब तीव्र आलोचनात्मक स्वर ने ले लिया है और बौद्धिकता अपनी पूरी धार के साथ सक्रिय होने की तैयारी

कर रही हैं राकेश के पात्र-कालिदास हो या मल्लिका, नंद हो या सुंदरी - आंरभिक उठान के बाद चिंता में डूब जाते हैं और उनका चिंतन उन्हें भीतर ही भीतर खोखला करता रहता है। यही वह लघु मानववादी दर्शन है जिसे पचास-साठ के दशक में अधिकांश समर्थ रचनाकारों ने ग्रहण किया था। प्रसाद में हृदय की रसात्मक अनुभूतियों के मार्मिक चित्र थे, वे चित्र ही यहाँ पूरी रतह बदल जाते हैं क्योंकि राकेश के नाटकों की भाव पद्धतियाँ, रचना-विधान से जिन जीवन-दृष्टियों में ढ़लती हैं उसमें एक निरंतर टूट-टूटकर सृजित होता हुआ मनुष्य है। उसके सामने समाज भयानक रूप से विषमताग्रस्त है और चारों ओर नैतिक ह्रास के दृश्य मौजूद हैं। शोषण और उत्पीड़न अनेक रूपों में बढ़ गया है। शोषण और उत्पीड़न की इसी कला के एक रूप का प्रतिनिधित्व करता है कालिदास- आत्म-केंद्रित, आत्म-सीमित, आत्म-पराजित, आत्म-विस्तार हीन व्यक्ति जो दूसरे की पीड़ा को समझने में नितांत असमर्थ है। नोंच-खसोट, अवसरवाद का जो उत्पीड़क तंत्र विकसित हुआ है उस तंत्र के संकेत मोहन राकेश देते हैं।

मोहन राकेश के नाटकों को पढ़ने-लिखतने पर प्रश्न भी उठता है कि 'आधुनिक भावबोध' क्या है? हालांकि 'आधुनिक' शब्द में पश्चिमी सभ्यता-संस्कृति की अर्थ-ध्वनि है, लेकिन मोहन राकेश के लिए 'आधुनिक' का अर्थ है - भारतीय चिंतन के भीतर जड़ताओं को तोड़कर नया होनां हर तरह के अन्याय को समझने वाली दृष्टि को विकसित करना उनके आधुनिक भावबोध के अंतर्गत है। नंद ने सुंदरी पर अन्याय किया या सुंदरी ने नंद पर- यह बहुत ही सापेक्ष स्थिति का प्रश्न है लेकिन प्रश्न तो है ही। उत्पीड़ित मनुष्य का प्रश्न, भावना-वंचित मनुष्य का प्रश्न, संस्कारों के रेजीमेंटेशन से टकराते हुए मनुष्य का प्रश्न - ये सभी प्रश्न आधुनिक भावबोध के प्रश्न हैं। रचनाकारों के संस्कारों में सँचित अनुभव जिस सौंदर्यबोध से संपन्न अनुभूतियों को जगाता है वह कोरा स्वप्न नहीं है। उसके भीतर वह समाज भी मौजूद है जिसके भीतर वह अनुभव जन्म लेता है। मोहन राकेश अपने अंतर्नेत्रों से समाज को ओझल नहीं होने देते, उस समाज को जो उनका वर्तमान है। वर्तमानकी वर्तमानता से टकराने के कारण ही उनका सौंदर्यबोधी भावबोध (एस्थेटिक इमोशन्स) अमूर्त नहीं हैं, एकदम यथार्थ लेकिन व्यक्तिवादिता से दूर। विषमता के दृश्य भौकता और सृष्टा मन की दूरी मिटाते हैं लेकिन यह सभी दृश्य भारतीय परिवेश की भीतरी तनावग्रस्त स्थितियों से उपजे हैं। संस्कृत की पृष्ठभूमि की दुंदुभी न पीटने पर भी मोहन राकेश अपनी संस्कृति की बहुलतावादी पृष्ठभूमि से विच्छिन्न नहीं हैं। जयशंकर प्रसाद से उन्होंने यह संस्कार पाया है कि सांस्कृतिक धारा की निरंतरता ही पीढ़ियों को सोचने की नई शैलियाँ प्रदान करती है। प्रसाद पराधीन भारत को लेकर सोच रहे थे। मोहन राकेश स्वतंत्र भारत के समाज के समस्याओं को लेकर। यह एक दिलचस्प तथ्य है कि दोनों की सौंदर्याभिरूचियाँ जीवन की कालिदासीय लय से संपन्न होती हैं और उनमें किसी भी तरह की जड़ीभूत स्थितियों को तोड़ने की शक्ति हैं। सौदर्याभिरूचियों का विस्तार और उनका पुन:पुन संस्कार इन दोनों की नाटककारों को प्रिय है। प्रगतिवाद ने जीवन का केवल राजनैतिक पक्ष ही उठाया, उसने संपूर्ण मनुष्य को अपना काव्य विषय नहीं बनाया। मोहन

राकेश प्रगतिवाद की एकांगिता से परिचित थे। इसलिए वह अपने सृजन में उस ओर नहीं गए। वह सृजित होते मनुष्य का संपूर्ण बिंब निर्मित करना चाहते थे। इसलिए मानवता के भविष्य निर्माण के लिए उन्होंने संघर्ष किया और उन कल्याणकारी स्थितियों के लिए अपने पंख उन्मुक्त आकाश में फैलाए जिनमें मुक्ति की कामना निहित थी। मुक्ति प्रसाद और राकेश दोनों को ही कई रूपों, कई स्थितियों में वांछित थी। इसलिए इस मुक्ति को व्यापक अर्थ-संदर्भों में समझना चाहिए क्योंकि यह मुक्ति इतिहास की जड़ताओं को तोड़कर एक नवीन इतिहास दृष्टि का निर्माण करती है। और यह इतिहास दृष्टि सांस्कृतिक प्रक्रिया नहीं तो क्या है? मोहन राकेश और प्रसाद को लेकर संस्कृति और सांस्कृतिक दृष्टि से घबराने की जरूरत नहीं है क्योंकि पश्चिमीकरण और भारतीयता के संदर्भ को बिना सांस्कृतिक दृष्टि को जाना-समझा ही नहीं जा सकता।

उपनिवेशवाद के परिणामस्वरूप उत्पन्न उन्मीलन में एक भारतीय लेख को कायांतरण केसे होाता है यह बात प्रसाद और मोहन राकेश को आमने-सामने रखकर ही समझी जा सकती है। किसी भी भारतीय लेखक के सामने एक रास्ता था - योरोपीयकरण। लेकिन क्या यह रास्ता सही है? यह प्रश्न गुलाम हिंदुस्तान में उठा। प्रसाद ने इसका उत्तर अपने ढ़ंग से दिया - छोटा उत्तर लेकिन बहुत बड़ा अर्थ - 'हमारे ज्ञान के प्रतीक भी दूर्बल नहीं है।' यह वही विचार है जिसे एक समय में अरविंद, विवेकानंद और तिलक उठाते रहें हैं। यह तथ्य कि भारतीयों को उनके अतीत के गौरव का ज्ञान योरोपीय सभ्यता के आतंक ने कराया इतनी आसानी से विस्मृत नहीं किया जा सकता। पश्चिमी सभ्यता के प्रति भारतीय दृष्टिकोण प्रसाद के चिंतन की एक दिशा थी। बहुलता पश्चिम के लिए खंडित प्रक्रिया थी लेकिन भारतीयों के लिए एक अखंड सांस्कृतिक धारा का प्रवाह जिसमें राज्य से ऊपर राष्ट्र था। इसलिए हमारे राष्ट्र की कल्पा की दिशाएं खुली थीं। हमारे तीन हजार वर्ष के इतिहास में शायद ही कोई समय ऐसा रहा हो जब यवनों, हूणों, मलेच्छों, इस्लामी आक्रमणकारियों, ईसाई मिशनरियों, योरोपीय विजेताओं ने हमें न घेरा हो। भारतीय संस्कृति का अद्वितीय लक्षण यह नहीं है कि लुट-पिट कर भी यह संस्कृति जीवित कैसे रही है, बल्कि उसका लक्षण यह है कि अपनी तमाम प्रभुसत्ताओं को खोने के बावजूद उसने आक्रामक रूख नहीं अपनाया। उसमें बुद्ध और गांधी दोनों बोले और एक खास स्तर पर शंकराचार्य भी। इन सभी के विचार भारतीय संस्कृति में लुप्त नहीं विलय हो गए।

प्रसाद के नाटकों में जो ब्राह्मण-श्रमण संघर्ष की ध्वनियाँ हैं वह अपने सपाट रूप में तो इतिहास में एक दौर का स्मरण कराती हैं लेकिन एक गहरे अर्थ में हिंदू पंडितों का खंडन-मंडन और इसाई मिशनरियों के शास्त्रार्थ का स्मरण कराती हैं। दूसरी संस्कृतियों और धर्मों के प्रति भारत में सदैव जिज्ञासा का भाव रहा, उपेक्षा का नहीं। भारतीयों ने जो सूक्ष्म, आत्मनिर्भर और आध्यात्मिक व्यवस्था तैयार की थी उसमे 'अन्य' के लिए जगह थी। इसलिए उन्हें अपनी जातीय अस्मिता को परिभाषित करने के लिए अन्य के उस संदर्भ से उस तरह नहीं जूझना पड़ा जेसा योरोप को। भारत ने 'अन्य' को हमेशा 'आत्म' के संदर्भ में रूप में स्वीकार किया। प्रसाद के नाटकों में कार्नेलिया भी

खप गई और सिल्यूकस भी क्योंकि 'अन्य' से भारतीय अस्मिता को न कोई खतरा न था उसकी अद्वितीयता को। 'अन्य' की भारतीय अवधारणा योरोपीय संस्कृति की अवधारणा से पूरी तरह भिन्न थी। 'अन्य' की इस भारतीय अवधारणा को हिंदी की आधुनिक सृजन धारा में जिन महान प्रतिभाओं ने ग्रहण किया उनमें प्रसाद और मोहन राकेश के नाम अविस्मरणीय हैं। रमेशचंद्र शाह का यह कथन- 'हम पाते हैं कि हमारे जातीय सांस्कृतिक इतिहास की सबसे प्रखर आत्म-चेतना प्रसाद में ही मिलती है। निश्चय ही प्रसाद ने अतीत का गौरवगान किया है किंतु वे उस तरह अतीतजीवी नहीं थे। अतीत इस कवि के लिए उस तरह है भी नहीं। नहीं तो अन्य कवियों की तरह वह भी वर्तमान दुरावस्था पर आँसू बहाते दिखाई देते, जबकि उनकी रचनाओं में अतीत इस तरह स्पंदित और सृजित है मानो वह वर्तमान की ही बात हो। कुछ कवियों में तादात्म्य की, अतीत के माध्यम से आत्म-स्थितियों के साक्षात्कार की क्षमता स्वाभाविक और जन्मजात होती है। प्रसाद ऐसे ही कवि हैं।

प्रसाद के सामने सृजन में तीन प्रश्न थे - (1) अपनी जातीय अस्मिता की खोज (2) परंपरा के साथ वास्तविक संघर्ष (3) गुलामी की मानसिकता से मुक्ति पाने की दिशा। इसलिए उनका दृष्टिकोण अतीत से जो संग्राम करते हैं वह गौरव के लिए नहीं हैं उस गौरव को नई स्थितियों में ढ़ाकलकर आगे बढ़ाने का अरमान और जटिलाएं इतनी है कि अरमान को पूरा करने के लिए उनमें व्यापक चिंताओं से उत्पन्न घिराव और तनाव है। कुँवर नारायण 'आत्मजयी' की भूमिका में यह कहा है कि भारतीय रचनाकार इतिहास और पुराकथाओं से उतना लाभ नहीं उठा सकता जितना यूनानी पुराकथाओं से योरोपीय रचनाकारों ने उठाया है। इसका कारण है कि हमारी पुराकथाएँ धर्म और दर्शन में आबद्ध हैं, उन्हें सेकुलर की कसौटी पर कसा ही नहीं जा सकता और जो सकते हैं वे भारतीय संस्कृति को नहीं समझते। मिथकों की यह मुश्किल प्रसाद, निराला, अज्ञेय और राकेश के सामने कम न थी। लेकिन उन्होंने अपनी 'चिंतनशीलता' से उसका हल निकाला। अपने सर्जनात्मक उत्साह में वे भारतीय रचना-दृष्टि को एक नया मोड़ देते रहें। इसलिए प्रसाद का चाणक्य और राकेश का कालिदास उस महा आख्यान का रूप पा गया जिसकी अनेक संभव व्याख्याएँ हैं। चाणक्य और कालिदास एक खुला पाठ हैं जिसमें पाठक किसी भी दरवाजे से प्रवेश कर सकता है।

प्रसाद और मोहन राकेश की मनोभूमिका को भारतीय संस्कृति के आर्तरिक मंतव्यों, अभिप्रायों और उद्देश्यों के अनुसार ही समझा जा सकता है। पात्र, कथानक, संवाद आदि की बाहरी तुलना को थोड़ी देर के लिए स्थगित कर दें और तुलना की आंतरिक अंतर्वर्ती धारा को सूक्ष्म गहन वैचारिक स्तर पर ग्रहण करें तो एक ही अर्थ-व्यंजना फूटती है कि दोनों ही नाटककार भारतीय संस्कृति की सांस्कृतिक संवेदना का न केवल पुनर्भाष्य करते हैं बल्कि उसमें एक नई अर्थ-निष्पत्ति को जोड़ते हैं। प्रसाद और राकेश की तुलना होने पर दोनों की उस महान परंपरा में बोलते सुनाई देते

विजय निकोर जी का जन्म दिसम्बर 1941 में लाहोर में हुआ। 1947 में देश के दुखद बटवारे के बाद दिल्ली में निवास। अब 1965 से यू.एस.ए. में हैं।

1960 और 1970 के दशकों में हिन्दी और अंग्रेजी में कई रचनाएँ प्रकाशित हुईं कल्पना, लहर, आजकल, वातायन, जागृति, रानी, Hindustan Times, Thought, प्रवक्ता, प्रवासी दुनिया, नव्या, सृजनगाथा, वटवृक्ष, आगमन, साहित्य यात्रा, आदि में प्रकाशित।

कई वर्षों के अवकाश के बाद अब विजय जी लेखन में पुनः सक्रिय हैं और गत कुछ वर्षों में चार सौ से अधिक कविताएँ लिखी हैं। कवि सम्मेलनों में नियमित रूप से भाग लेते हैं।

अमृता प्रीतम जी पर तीन खण्डों में इन्होंने संस्मरण लिखा है। आपने पिछले अंक में संस्मरण का प्रथम भाग पढ़ा था प्रस्तुत है संस्मरण का दूसरा भाग।

अमृता प्रीतम जी और ईश्वर

विजय निकोर

वे पाठक जिन्होंने अमृता जी का उपन्यास 'एक सवाल' पढ़ा है, शायद याद करेंगे कि अमृता जी ने यह मार्मिक घटना उस उपन्यास के पात्र जगदीप के मुँह इन्हीं शब्दों में कही है जब जगदीप की माँ नहीं रहतीं। उस शोक-ग्रस्त दिन से शिशु-अमृता ने अपने घर का नियम तोड़ दिया...अब वह सोने से पहले दस मिनट आँखें मींचकर ईश्वर में ध्यान नहीं लगाती थीं। हाँ, अमृता जी का ईश्वर में विश्वास टूट गया था, परन्तु सदैव के लिए नहीं।

कई लोग जो अमृता प्रीतम जी की रचनाओं से प्रभावित हैं अथवा उनके जीवन से परिचित हैं, उनकी मान्यता है कि अमृता जी विधाता में विश्वास नहीं करती थीं। इस कथन में वह ठीक हैं भी और नहीं भी। यह इसलिए कि अमृता जी का लेखक-जीवन इतना लम्बा था कि यह मान्यता इस पर निर्भर है कि वह कब किस पड़ाव में से गुजरीं, और उनकी उस पड़ाव के दौरान की रचनाएँ क्या इंगित करती हैं।

अमृता जी की रचनाओं के लिए असीम श्रद्धा के नाते और जीवन को उनके समान असीम गहराई से देखने के नाते मुझको उनसे कई बार मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अतरू कई लोग अमृता जी के लिए मेरे मन में एक विशिष्ट स्थान से परिचित हैं, और वही लोग यह भी जानते हैं कि ईश्वर में मेरा अटूट विश्वास है। इसलिए मुझको इस बात का आश्चर्य नहीं कि इस प्रष्ठभूमि में किसी ने मुझसे कभी कहा था .....

शायद अमृता जी तो ईश्वर में विश्वास नहीं करती थी पर आप... आप तो उनमें बहुत श्रद्धा रखते हैं, ये मुझे विसंगत-सा लगता है।

वास्तविकता तो यह है कि अमृता जी की बाल-अवस्था एक धार्मिक वातावरण से गुजरी थी। अपने पिता नन्द साईं के बारे में उन्होंने एक बार लिखा था ....

'पिता - जो उन दिनों नन्द साधु थे
राज बीबी उनकी जवानी का सपना बनीं
और मैं - उनके सपने की ताबीर-सी पैदा हुई।'

अमृता जी का जन्म सन १९१९ में हुआ था। अपनी बाल-अवस्था के विषय में उन्होंने स्वयं लिखा था... 'मैं आठ-नौ वर्ष की रही हूँगी। घर का पूरा वातावरण धार्मिक था। सुबह-शाम पाठ करना, सोने से पहले दस मिनट आँखें मींचकर मन को ईश्वर के ध्यान में लगाना, घर का नियम था। चाहे घर में महमान आये हों ... आँखो में नींद भर आए, पर कोई भी बात इस नियम में विघन नहीं डाल सकती थी।'

तब एक दिन उन्होंने अपने पिताजी से पूछा था, 'ईश्वर की शक्ल कैसी होती है?' इस पर उनके पिताजी ने बताया, 'ईश्वर की मंजिल पर गुरू की राह से होकर पहुँचा जाता है। यह दस गुरूओं के चित्र हैं। तू इनमें से कोई भी शक्ल स्मरण कर लिया कर'.... और उन चित्रें को बार-बार देखते अमृता जी की नजर जहाँ अटक जाती थी वह छठे गुरू हरिगोविन्दसिहं जी और दसवें गुरू गोविन्दसिहं जी के चित्र थे।

१९२८ में जब अमृता जी मात्र ९ साल की थीं जब उन्हें रातों को अकसर गुरू हरिगोविन्दसिहं जी का और गुरू गोविन्दसिहं जी का सपना आने लगा था, और वह सपने में उनसे बातें करती थीं।

मैंने उनसे १९६३ में एक बार पूछा कि उन्होंने अपने माता-पिता को इन सपनों के विषय में बताया क्या? कहने लगीं, 'पिता जी कठोर थे, डरती थी कि पता नहीं वह क्या कह देते, पर अगले दिन माँ को पिछली रात का सपना सुना देती थी, और मेरी माँ इतनी खुश होती थीं... जा कर अपनी सहेलिओं को मेरे सपने बताती-फिरती थीं ...और उनकी वही सहेलियाँ कभी-कभी आ कर मेरे पाँव छू लेती थीं क्यूँकि मुझको गुरूओं के सपने आते थे।'

इस धार्मिक वातावरण के बावजूद अमृता जी के जीवन में कुछ घटनाएँ ऐसी हुईं कि जिनसे किसी का भी मन हिल सकता है, किसी का भी विश्वास टूट सकता है,विशेषकर यदि वह घटनाएँ बचपन की मासूम आयु में हुई हों ... तो बच्चे पर क्या गुजरती है ! उनके संग हुई ऐसी ही एक घटना बताता हूँ। अमृता जी मात्र ११ वर्ष की थीं जब उनकी माँ बहुत बीमार हो गई थीं। घर के लोगों ने उमीद छोड़ दी थी। माँ के पास अमृता जी को ले गए तो माँ होश में नहीं थीं... माँ ने अपनी बच्ची को नहीं पहचाना। अमृता जी ने बताया कि किसी ने इस बच्ची से, उनसे, कहा कि ईश्वर से प्रार्थना कर, ईश्वर बच्चों की बात सुनते हैं...और अमृता जी ने अपने शिशु मन से धयान लगा

कर ईश्वर से प्रार्थना की और कहा, 'मेरी माँ को बचा लो, उसे न मारना' ..... लेकिन माँ नहीं रहीं। उस समय शिशु-अमृता अत्यंत क्षुब्धा थीं... कि 'ईश्वर किसी की नहीं सुनता, बच्चों की भी नहीं'।

वह पाठक जिन्होंने अमृता जी का उपन्यास 'एक सवाल' पढ़ा है, शायद वह याद करेंगे कि अमृता जी ने यह मार्मिक घटना उस उपन्यास के पात्र जगदीप के मुँह इन्हीं शब्दों में कही है जब जगदीप की माँ नहीं रहतीं। उस शोक-ग्रस्त दिन से शिशु-अमृता ने अपने घर का नियम तोड़ दिया...अब वह सोने से पहले दस मिनट आँखें मींचकर ईश्वर में ध्यान नहीं लगाती थीं। हाँ, अमृता जी का ईश्वर में विश्वास टूट गया था, परन्तु सदैव के लिए नहीं। जीवन में कई घटनाओं के बावजूद भी अमृता जी ने १९६१ में गुरू नानक जी पर एक कविता लिखी...

'यह कौन-सा जप है
कौन-सा तप है
कि माँ को
ईश्वर का दीदार
कोख में होता है' ...

... और यह भी लिखा, 'जिस माँ ने गुरू नानक जैसे पुत्र को जन्म दिया वह मेरी आँखों में बसी रहती थी' ...

मैं १९६४ में जब चौथी बार अमृता जी से मिला तो मैं उन दिनों यू.एस.ए.आने की तैयारी कर रहा था। कई बार मिलने के कारण उन्होंने मेरे मन को बहुत भीतर से देखा था, परखा था, और मैंने उनको यू.एस.ए. आने के दो कारण पूरी सच्चाई से बताए थे। वह मेरे यहाँ आने के निर्णय से खुश थीं भी, और नहीं भी। क्यों नहीं थीं, यह बात कभी और... यदि बता सका तो...।

१९६० – ७० के वर्षों में अमृता जी रशिया में जन्मी अमरीकन लेखक-दार्शनिक अय्न रैन्ड (Ayn Rand) से अति प्रभावित थीं। अतरू उन्होंने मुझको सुझाव दिया कि मैं यू.एस.ए. आने पर अय्न रैन्ड की पुस्तक Fountainhead को जरूर पढ़ूँ.. और मैंने यहाँ आ कर पढ़ने के बजाए यह पुस्तक अगले दिन भारत में ही खरीद कर पढ़नी शूरू कर दी थी। मैं अय्न रैन्ड की शैली और दार्शनिकता दोनों से बहुत प्रभावित हुआ... इतना कि यहाँ आने पर मैंने उनकी और भी कितनी पुस्तकें बड़े चाव से पढ़ीं, उनके कई खयाल मेरे खयाल बन गए, पर एक दिशा में मैं उनसे अलग रहा... वह यह कि अय्न रैन्ड ईश्वर में विश्वास नहीं करती थीं, और मेरा विश्वास ईश्वर में कटर रहा। उनकी मान्यता थी कि मानव से ऊँचा और कोई नहीं है। तब मैंने यह भी जाना कि अमृता जी क्यूँ मुझसे कई बार कहती थीं, कि ...

(पंजाबी में) ... 'विजय जी, ईश्वर ते है ई, तुसीं आपणें विच विश्वास रखो' ...

... अनुवाद, 'विजय जी, ईश्वर तो है ही, आप अपने में विश्वास रखो।'

अतरू १९६० और ७० के दशक की अमृता जी को जानने के लिए हमें उनको अय्न रैन्ड

के प्रभाव के परिप्रेक्ष्य में देखना होगा। अय्न रैन्ड के अनुसार मानव ऐसा भी हो सकता है कि जैसे उन्होंने Fountain Head में Howard Roark के चरित्र को दृश्यमान किया है..."His face was like a law of nature] a thing you could not question] alter or implore-" ....क्या वर्णन है, क्या विवरण है स्थिरता का, अटलता का, दृढ़ता का ! अमृता जी के अनुसार भी मानव को ऐसा ही होना चाहिए।

अमृता जी नास्तिक कदाचित नहीं थीं... ईश्वर को मानती थीं, पर इसके साथ-साथ वह अय्न रैन्ड से प्रभावित होने के कारण वस्तुपरकता (objectivity) को भी महत्व देती थीं, और यही सीख उन्होंने मुझको भी दी जब उन्होंने मुझसे कहा, ... पंजाबी में...

'विजय जी, भावना प्यार विच ठीक ए, नज्मां विच ठीक ए, पर एदे नाल जिन्दगी कदी नईं जी सकदे।'

अनुवादरू 'विजय जी, भावनाएँ प्रेम में ठीक हैं, कविता में ठीक हैं, पर इनके साथ जीवन नहीं जी सकते।'

यह तो बात थी ६० और ७० के दशक की। उसके बाद आयु बढ़ने के साथ-साथ अमृता जी पुनरु अध्यात्मिक्ता की ओर गईं...इतनी कि उन्होंने शिरडी के साईं बाबा से प्रभावित हो कर साईं दर्शन पर कई कविताएँ भी लिखीं .... कि जैसे....

साईं ! तू अपनी चिलम से
थोड़ी-सी आग दे दे
मैं तेरी अगरबत्ती हूँ
और तेरी दरगाह पर मैंने
एक घड़ी जलना है ...
और फिर...
जो भी हवा बहती है
दरगाह से गुजरती है -
तेरी साँसों को छूती है
साईं ! आज मुझे -
उस हवा से मिलना है ...

यह पंक्यिाँ अमृता जी ने १९९३ में लिखी थीं। कैसे कह दूँ कि अमृता जी का ईश्वर में विश्वास बचपन में माँ को खो देने के बाद वापस नहीं आया था। बात करती थीं ... धीरे-धीरे ... ठहरा कर... कि जैसे उनके ओंठों से आधयात्मिक्ता का भाव छलक रहा हो।

डॉ. पूर्णिमा देवी मौर्या, सहायक प्राध्यापक, हिन्दी क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान, भोपाल

त्रिलोचन की काव्य संवेदना

डॉ. पूर्णिमा मौर्या

विवाहित दम्पत्ति के वैवाहिक जीवन के हसीन-कोमल सपनें जल्द ही रोजी-रोटी की जुगत जुटाने की भेंट चढ़ जाते हैं। तब उनके विछोह में न तो कोई वियोग गीत गाये जाते हैं और न ही कविताएं लिखी जाती हैं। क्योंकि यह एक सामान्य नव दम्पत्ति का वियोग है। जिन्दगी के कठोर धरातल पर घटने वाली रोजमर्रा की सामान्य घटना है। पूर्वनिर्धारित, नियति की तरह।

त्रिलोचन की कविताओं को पढ़ते हुए यह महसूस होता है कि वे अपनी माटी से गहरे जुड़े हैं। जन-जीवन के विभिन्न राग-रंग, दुःख-सुख, बोली-बानी, परम्परा-संस्कार से भली-भाँति परिचित हैं। जो उनकी कविताओं में सहज ही अभिव्यक्त होते हैं। अपनी कविता में वे कहते भी हैं कि 'मैं उस जनपद का कवि हूँ जो भूखा दूखा है, नंगा है, अनजान है।' यह मात्र कथन नहीं है और न ही कविता को मार्मिक और प्रभावशाली बनाने के लिए कहा गया वाक्य। ये पंक्तियां अपने लोगों की तकलीफ को बयां करने के साथ उनके अपने कवि होने की घोषणा भी करती हैं। इनके पहले कविता संग्रह 'धरती' सन् 1945 ई. की कविता 'चम्पा काले काले अच्छर नहीं चीन्हती' प्रवास झेलते समाज और परदेस में बसे अपने लोगों के लिए तड़पते स्त्री मन को समझती बहुत प्रभावशाली कविता है। अनपढ़ चम्पा, चंचल है, नटखट है, कभी कभी ऊधम भी कर लेती है। इस कविता में उसी चम्पा से त्रिलोचन का संवाद है। कवि त्रिलोचन को पढ़ता देखकर चम्पा को आश्चर्य होता है कि इन चिन्हों से ये सब स्वर कैसे निकलते हैं अर्थात् उसने पहले कभी किसी को ऐसे पढ़ते

नहीं देखा। उसके आस-पास का माहौल शिक्षा से कोसो दूर है। जब कवि उससे कहता है कि-''चम्पा तुम भी पढ़ लो, हारे गाढ़े काम सरेगा'' तो वह पढ़ने से साफ मना कर देती है। कवि त्रिलोचन चम्पा को समझाते हुए कहते हैं-

''ब्याह तुम्हारा होगा, तुम गौने जाओगी
कुछ दिन बालम संग साथ रह चला जायेगा जब कलकत्ता
बड़ी दूर है वह कलकत्ता
कैसे उसे संदेसा दोगी
कैसे उसके पत्र पढ़ पाओगी
चम्पा पढ़ लेना अच्छा है।''

ये लाइने पूर्वांचल के गांवों की उस पीड़ा को सामने रखती हैं जहां ब्याह के बाद आई नवविवाहिता को छोड़कर जल्द ही उसका बालम किसी दूसरी जगह नौकरी के सिलसिले में चला जाता है। विवाहित दम्पत्ति के वैवाहिक जीवन के हसीन-कोमल सपनें जल्द ही रोजी-रोटी की जुगत जुटाने की भेंट चढ़ जाते हैं। तब उनके विछोह में न तो कोई वियोग गीत गाये जाते हैं और न ही कविताएं लिखी जाती हैं। क्योंकि यह एक सामान्य नव दम्पत्ति का वियोग है। जिन्दगी के कठोर धरातल पर घटने वाली रोजमर्रा की सामान्य घटना है। पूर्वनिर्धारित, नियति की तरह। पढ़ने लिखने का महत्व बताते हुए कवि त्रिलोचन जब चम्पा को दूर बैठे बालम को पत्र लिखने की बात बताते हैं तो चम्पा कहती है-

''तुम कितने झूठे हो, देखा,
हाय राम, तुम पढ़-लिख कर इतने झूठे हो
मैं तो ब्याह कभी न करुंगी
और कहीं जो ब्याह हो गया
तो मैं अपने बालम को संग साथ रखूंगी
कलकत्ता में कभी न जाने दूंगी
कलकत्ता पर बजर गिरे।''

भारतीय समाज पितृसत्तात्मक है जिसके कारण स्त्री को स्वतन्त्र रूप से फैसले लेने का हक नहीं है। ऐसे में वह अपनी स्वाभाविक इच्छाओं को भी व्यक्त करने में हिचकिचाती है लेकिन त्रिलोचन स्त्री की उन इच्छाओं को तो समझते ही हैं। उसके दु:ख और आक्रोश को भी समझते हैं। चम्पा पहले तो त्रिलोचन की बातों पर विश्वास ही नहीं करती और उन्हें बड़ी मासूमियत से झूठा ठहरा देती है लेकिन अगली ही लाइन में अपने 'बालम को संग साथ' रखने की केवल इच्छा नहीं जाहिर करती है बल्कि पूरे विश्वास के साथ फैसला ही सुना देती है कि 'बालम को संग साथ रखूंगी, कलकत्ता कभी न जाने दूंगी'। क्योंकि यह वही कलकत्ता है जिसके बारे में उसके जैसी तमाम स्त्रियों के बीच यह बात सच की तरह स्वीकार्य है कि वहां की औरतें काला जादू जानती हैं

और परदेसी आदमियों को अपने वश में कर लेती हैं। वे आदमियों को दिन में भेड़ और रात में आदमी बनाकर रखती हैं। जिससे वहां गए उनके बालम या तो जल्दी आ नहीं पाते या हमेशा के लिए उन्हीं का होकर रह जाते हैं। इसीलिए वह 'कलकत्ते पर बजर गिरे' कहकर उसे कोसती है। त्रिलोचन चम्पा के माधयम से बड़ी सहजता से एक तरफ स्त्री की इच्छाओं और आक्रोश को वाणी देते हैं तो दूसरी ओर औद्योगीकरण का नकार भी करते हैं। इस कविता को पढते हुए एक गीत 'रेलिया बैरन पिया को लिए जाए रे' बरबस ही याद आने लगता है। बेरोजगारी की मार झेलते युवकों को शहर आकर्षित करता है। उन्हें लगता है कि वहां जाकर उनके सारे सपने पूरे हो जाएंगे और वो एक खुशहाल जीवन जी पाएंगे। यही उम्मीद उन्हें अपने घर-परिवार से दूर प्रवास काटने के लिए बाध्य कर देती है। स्त्री अपने पिया को नौकरी करने किसी दूसरे शहर नहीं जाने देना चाहती है। लेकिन उसे रोकना भी सम्भव नहीं है। ऐसे में पिया को दूसरे शहर ले जाने वाली रेलगाड़ी ही उसे बैरी लगने लगती है और अन्ततः वह उस शहर के ही जल जाने की कामना करती है।

'परदेसी के नाम पत्र' शीर्षक कविता परदेस गए पति को पत्नी द्वारा लिखा गया ख़त है। यह 'अरघान' संग्रह में संकलित है। एकबारगी देखने में यह कविता एक सामान्य पत्र की तरह ही लिखी गयी प्रतीत होती है-

> ''सोसती सिरी सर्ब उपमा जोग बाबू रामदास को
> लिखा गनेसदास का राम राम बाँचना। छोटे बड़े को सलाम
> असिरबाद जथा उचित पहुँचे। आगे यहाँ कुसल है, तुम्हारी कुसल काली जी से
> रात दिन मनाती हूं।''

कविता में पाँच बन्द हैं। पत्र लिखने की पुरानी परम्परा निभाते हुए कविता शुरू होती है। अपनी कुशलता बताने और 'तुम्हारी कुसल काली जी से दिन रात मनाती हूँ' कहकर दूसरा बन्द शुरू होता है। दूसरे, तीसरे और चौथे में तीन खबरें हैं, और पांचवा बन्द 'तुम्हें गांव की क्या कभी याद नहीं आती' से शुरू होता है। पत्र में कहीं भी प्रेम मिलन या वियोग का वर्णन तो नहीं मिलेगा किन्तु पूरे पत्र में प्रेम की भीनी महक को महसूस किया जा सकता है। साथ रहने की सुखद स्मृतियों का जिक करना जैसे-'जो अमोला तुमने धारा था द्वार पर/अब बड़ा हो गया है' या 'तुम को समझते हैं यही हो। यह किसी और के द्वारा समझा जाना नहीं है बल्कि पत्नी का ही ये विश्वास है कि उसका पति उसके पास है कहीं दूर नहीं गया है। पति के साथ बिताई अतीत की सुखद प्रेमानुभूतियां ही है जो उसे तन्हाइयों से उबार लेती हैं। ''इस पत्र के सम्बन्ध में दिलचस्प बात यह है कि पूरे पत्र में सिर्फ तीन समाचार दिए गए है। पहला है, 'अमोला बड़ा हो गया है, ऐसा ही रहा तो फल अच्छे आएंगे'। दूसरा, 'बछिया कोराती है, देखो कब ब्याती है'। तीसरा, 'मन्नू बाबा की भैंस ब्याई है' और अन्त में 'थोड़ा लिखना समझना बहुत' लोकगीतों की शैली का आश्रय लेकर त्रिलोचन ने अपूर्व काव्य-संयोजन किया है। पूरी कविता आने वाले फलों और गर्भवती या आसन्नप्रसवा जीवों के

समाचार से भरी है।'' 'थोड़ा लिखा समझना बहुत' कहकर पत्नी अपने मन के तमाम भावों और पीड़ा को व्यक्त कर देती है। कविता में खबरें प्रकारान्तर से कुछ सूचित कर रही हैं। इसे पत्र में सीधे-सीधे नहीं कहा गया है क्योंकि 'समझदार के लिए इशारा ही काफी है'। स्त्रियों के इस अनकहे की अनुभूति को समझना 'पुरुष' के लिए मुश्किल हो सकता है। किन्तु साथी-सहचर-प्रेमी इसे बखूबी समझ लेगा, और त्रिलोचन स्त्री के अनकहे को ठीक से समझते तो हैं ही स्वयं को तथाकथित समझदार मानने वालों से इसे समझने की मांग भी करते हैं।

'मैं उस जनपद का कवि हूँ' में संकलित एक अन्य कविता परदेसी पति की व्यथा बयान करती है। जो भावी जीवन को सुखद बनाने की उम्मीद लिए वर्तमान में कष्ट झेल रहा है। नून तेल लकड़ी की जुगत में लगे मजदूर के पास सांस लेने तक की फुर्सत नहीं है। ऐसे में वह किसी की याद में कैसे खो सकता है। वह अपनी इस पीड़ा को स्वीकार करते हुए कहता है कि –

''सचमुच इधर तुम्हारी याद तो नहीं आई
झूठ क्या कहूँ, पूरे दिन मशीन पर खटना,
बासे पर आकर पड़ जाना और कमाई
का हिसाब जोड़ना''

यही है हमारे समाज का सच है। जहां छोटी-छोटी इच्छाओं को पूरा करने के लिए इतना संघर्ष करना पड़ता है कि कई बार पूरी जिन्दगी भी कम हो जाती है। हमारे समाज में आर्थिक गैरबराबरी को देखने के लिए किसी सरकारी आंकड़े की दरकार नहीं। एक तरफ बहुमंजिला इमारतों, कोठियों और चमचमाती लाखों की गाड़ियां तो दूसरी ओर झुग्गी-झोपड़ियों या फुटपाथ पर ही कड़ाके की सर्दियां बिताती जिन्दगी देखी जा सकती है।

परदेस में बसे मजदूर की यही दिनचर्या है। उसे अपनी 'आरर-डाल' नौकरी का कोई भरोसा भी नहीं है। जो कभी भी जा सकती है। ऐसे में हाड़ तोड़ मेहनत करके ही अपनी कमाई से कुछ बचाया जा सकता है। वह अपने हाथों रोटी बनाकर कभी नमक से तो कभी साग से खाकर दिन गुजार रहा है। पत्नी की कमी भी खलती ही है। जब मन उचटता है तो 'इस उस पर मन दौड़ता है'। घर लौटने की कोई उम्मीद भी नज़र नहीं आती। फिर भी वह दिलासा देते हुए कहता है–

''धीरज धारो आज कल करते तब आऊंगा,/जब देखूंगा अपना घर कुछ कर पाऊंगा।''

शहर में जो भी थोड़ा बहुत कमा लेता है घर जाकर तो वह भी सम्भव नहीं हो पाएगा। वहां तो रोज कुंआँ खोदकर पानी पीने जैसी स्थिति रहती थी। रोजमर्रा की मूलभूत जरूरतों को पूरा कर पाना ही मुश्किल था। भविष्य के लिए कुछ संचय करना तो सम्भव ही नही। हांलाकि उसे

अपने गांव की सुखद स्मृतियां सालती हैं। किन्तु जिम्मेदारियों के अहसास, नौकरी पाने और करने की जद्दोजहद में वे सारी सुखद स्मृतियां अब उससे कोसों दूर हो गई हैं। 'धूप में बैठ हरी मटर की घुँघनी खाना और जाड़े की धूप का आनंद लेना, गन्ने का ताजा रस पीना, कोल्हाड़ों में जाना, आलू ले कर मनचाही संख्या में पकाने के लिए किसी कमानी या पतली लकड़ी में लेकर पहुंचना और पकते रस में डालकर पकने के बाद उसका आनन्द लेना' स्वप्न जैसा हो गया है। लाख इच्छा के बावजूद घर लौटना सम्भव नहीं हो पाता है। उसे इस बात की भी चिंता है कि इतने दिनों के बाद घर खाली हाथ नहीं जाना चाहिए। सबके लिए कुछ तो ले ही जाना चाहिए। इसी चिंता से उपजी परिस्थिति को उजागर करती इसी संग्रह की एक अन्य कविता देखी जा सकती है। लाख कोशिश के बाद भी परदेस से अपने गांव लौटे मजदूर के पास इतनी बचत नहीं हो पाई कि वह अपनी पत्नी के लिए कोई उपहार ले जा सके। उन फरमाइशों को पूरा कर सके जो विदा करते समय की गई थीं–

''विदा किया तब कहा कि यह लाना वह लाना,
ग्वैड़े आया, और हाथ दोनों हैं खाली
सजी खूब थी हाट, मगर मुश्किल था पाना
पैसों बिना. 'जानती हो, मुझ को खुशहाली
जैसे यहाँ वहाँ भी न थी'–क्या यही कहूँ.
कितनी ठेस लगेगी उस को. अपने मन में
क्या क्या सोचे बैठी होगी.''

यही है हमारे समाज का सच है। जहां छोटी–छोटी इच्छाओं को पूरा करने के लिए इतना संघर्ष करना पड़ता है कि कई बार पूरी जिन्दगी भी कम हो जाती है। हमारे समाज में आर्थिक गैरबराबरी को देखने के लिए किसी सरकारी आंकड़े की दरकार नहीं। एक तरफ बहुमँजिला इमारतों, कोठियों और चमचमाती लाखों की गाड़ियां तो दूसरी ओर झुग्गी–झोपड़ियों या फुटपाथ पर ही कड़ाके की सर्दियां बिताती जिन्दगी देखी जा सकती है। जो चीख चीख कर हमारे समाज की विषमता बयान करती है। यहां कुछ लोग ऐसे हैं जो दावतें करने और उपहार लेने–देने के बहाने ढूंढते हैं जिनके यहां हर दिन ईद और हर रात दीवाली होती है तो कुछ लोग ऐसे हैं जो दावत और उपहार लेने–देने की संस्कृति से काफी दूर दो जून खाने की मशक्कत करते–करते ही मर जाते हैं। उनके लिए ईद और दीवाली के कोई मानी ही नहीं। त्रिलोचन का कवि हृदय ऐसे आम आदमी की तकलीफ को समझता है–

''ऐसे भी मनुष्य हैं जन्में दुनिया में, जिनको दुर्लभ है कानी कौड़ी.
प्यार उन्हें भी मिलता है, सुख का कोलाहल
उन्हें नहीं सुन पड़ता है, विपत्ति ही दौड़ी
दौड़ी उन्हें भेंटती है, करती है विह्वल.''

त्रिलोचन ने सॉनेट भी लिखे हैं। सॉनेट में भावुकता, मार्मिक चित्रण और उपदेश की अपेक्षा

व्यंग्यात्मकता की अधिकता है। व्यंग्यात्मक कविताओं में विषय की विविधता है। कहीं सामाजिक, राजनीतिक व्यंग्य हैं तो कहीं लेखकों और आलोचकों की पोल खोलती कविताएं हैं। 'चुनाव के दिन' चुनाव नज़दीक आने पर नेता द्वारा अपनी रणनीति बदलकर शेर से बिल्ली बनने की चाल को समझाती व्यंग्यात्मक कविता है। ऐसे खास समय में नेता का व्यवहार, भाषा और मुस्कराहट तक बदल जाते हैं। उसकी बातों में किसान, मजदूर का जिक्र आने लगता है। बात-बात में ऑसू बहे चले आते हैं। पहले कुछ पूछने पर बना बनाया उत्तर मिलता था या फिर गोलियां बोलती थी आज वही नेता वोट पाने के लिए आम जनता की चिरौरी करता फिर रहा है। त्रिलोचन जनता को आगाह करते हुए कहते हैं-'ये चुनाव के दिन हैं नाटक और तमाशे नये नये होंगे ठनकेंगे ढोलक ताशे।'

जब हम त्रिलोचन की कविताओं से गुजरते हैं तब त्रिलोचन की उपस्थिति को बराबर महसूस करते हैं। उनकी कविताएं उनके जीवन और व्यक्तित्व का आईना भी हैं। अपनी कविताओं में उन्होंने जितना अपने बारे में लिखा है शायद ही किसी अन्य कवि ने लिखा हो। हिन्दी साहित्य जगत में प्रसिद्ध होने के लिए आलोचकों से मेल-जोल और मित्रता रखना आवश्यक है। इसके बिना यहां अपनी पहचान बनाना बहुत मुश्किल है। 'आलोचक' कविता में हिन्दी आलोचकों का जब वे पर्दाफाश करते हैं तो प्रारम्भ अपनी जीवन स्थितियों से ही करते हैं। वे कहते हैं कि त्रिलोचन के हाथों में कभी पैसा धेला टिका ही नहीं। कैसे चाय पानी का बन्दोबस्त कर पाते। हमेशा ठूंठ से अकेले ही रहे। वे लिखते हैं-

कैसे अमुक अमुक कवि ने जमकर जलपान कराया,
आलोचक दल कीर्तिगान में कब थकता है।
दूध दूहेगा, जिसने अच्छी तरह चराया।
आलोचक है नया पुरोहित उसे खिलाओ
सकल कवि-यश प्रार्थी, देकर मिलो मिलाओ।

त्रिलोचन अपनी कविताओं में अन्तर की अनुभूति को ही बिना रँगे चुने कागज़ पर उतार देते हैं। इसके लिए वे सजगता से भाषा का चुनाव नहीं करते। अपनी माटी की खुशबू लिए उनकी भाषा इसीलिए भूखे-दूखे आम जन को अपनी सी लगती है। कई बार शैलीगत नए प्रयोग भले ही लोगों को कुछ अखरते हों किन्तु भाषा की सादगी और भाव की गहराई और अपनापन उनकी कविताओं को प्रभावशाली बनाते हैं। वे बहुत संवेदनशील कवि हैं उनकी संवेदना में 'नगई महरा', 'भोरई केवट', 'फेरू कहार', 'सब्जी वाली बुढ़िया' से लेकर 'बिल्ली के बच्चे' गौरया आदि जीव तक आते हैं। प्रकृति के विभिन्न रूपों पर लिखी कविताओं की संख्या भी कम नहीं है। इन सारी कविताओं में गाँव और उसकी संस्कृति को भली भाँति देखा और महसूस किया जा सकता है।

डॉ. सत्य प्रकाश सिंह, असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, राजधानी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
मो0 : 9811870076

'आज' से नहीं 'अब' हम मित्र हैं- त्रिलोचन शास्त्री

डॉ. सत्य प्रकाश सिंह

यह महज साधारण शब्द प्रयोग ही नहीं है अपितु आधुनिक जीवन के प्राय: सायास और स्वार्थ आधारित रिश्तों के समानांतर लोकरंग से समन्वित रिश्ते का आह्वान है। बिना किसी छोटे-बड़े, अच्छे-बुरे जैसे संकीर्ण भाव के, खुलेमन से मित्रता का स्वीकार है जो कवि को चौकाने के लिए काफी है। दरअसल वह जिस दौर का बाशिन्दा है उसमें सोच-समझकर, स्वार्थ के आधार पर रिश्ते बनाने की प्रथा है। उसके लिए यह अनुभव नया है किन्तु वांछनीय भी है।

त्रिलोचन शास्त्री की कविताएँ प्राय: व्यक्तिगत जीवन संघर्षों और सामाजिक जीवन संघर्षों से उपजती हैं, इसलिए जो एक बात सरलता से उनकी कविता में प्राप्त होती है, वह है – 'बहुआयामी निरंतर जीवन संघर्ष'। यह संघर्ष अक्सर जीवन के स्नेहपूर्ण लगाव तथा पराजयहीन चेतना से अनुप्राणित और प्रेरित होता है और व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के सत्य को तर्कसंगत आधार प्रदान करता है।[1] त्रिलोचन की कविताओं के वैचारिक धरातल का अध्ययन सूक्ष्मता से किया जाय तो स्पष्ट होता है कि उनका व्यक्तिगत सत्य प्राय: सामाजिक सत्य का अनिवार्य अंग बनकर ही प्रस्तुत हुआ है। कवि दुख और सुख अकेले नहीं झेलना चाहता है अपितु स्वयं के दुख-सुख में दूसरों को शामिल करना चाहता है, दूसरों की अनुभूतियों में शामिल होना चाहता है और यहीं वह सामाजिक जीवन के प्रवाह में अपने योगदान के साथ प्रस्तुत होता है।[2] व्यक्तिगत जीवन और संघर्षों के समाजीकरण का यह तरीका त्रिलोचन का अपना अनूठा तरीका है, जिसकी तरफ इशारा करते हुए गजानन माधाव मुक्तिबोध लिखते हैं कि, कवि – ''उस संघर्ष को केवल व्यक्तिगत सत्य ही नहीं सामाजिक वास्तविकता मानकर उसके प्रति बहुत ईमानदार रहना चाहता है।''[3]

'चित्र जम्बोरकर' ऐसी ही एक कविता है, जो अपने सेटअप में बहुत कुछ वैयक्तिक होते हुए (व्यक्तिगत अनुभव पर केन्द्रित) भी समाजीकरण की प्रक्रिया को नवीन तेवर प्रदान करती है। एक तीन-चार वर्ष की लड़की चित्रा, जो राह चलते हुए कवि का हाथ पकड़ लेती है और अपने छोटे भाई रवीन्द्र जम्बोरकर का परिचय कवि से करवाते हुए मित्रता का खुला निमंत्रण देती है। कविता का कथाक्रम स्मृति-चित्र के रूप में उभरता है। कवि की कविता में मौजूदगी उसके और चित्रा के सम्बन्धों को प्रामाणिकता प्रदान करती है। जो घटनाक्रम घट रहा है, कवि की भावनाओं के रूप में ही व्यक्त हुआ है किन्तु कविता में वह महज दर्शक एवं भोक्ता की ही भूमिका में है। वह कविता में कहीं भी कुछ थोपता नहीं है। जो सहजता से बनता जा रहा है बनने दे रहा है, मानों जीवन के प्रवाह में वह अन्य सामाजिकों की भाँति शामिल भर है। इसलिए कवि प्रत्येक पात्र की सहजता-सरलता, व्यवहार और आकांक्षा मौलिक और प्राकृतिक ढंग से उभारने में कामयाब हुआ है। कविता दर्शन पर नहीं लिखी गयी है, जीवन पर लिखी गयी है, किन्तु दर्शन गढ़ती है और आधुनिक युग के उस संकट को चिन्हित करती है जिसके कारण हम खण्ड-खण्ड ईकाइयों और खण्ड-खण्ड सत्यों मे जीने को विवश हैं।

''नन्हें-नन्हें हाथों ने/पकड़ लिया मेरा हाथ/और शेकहैंड किया/ चेहरे पर हंसी/ और/ रोम रोम में फुर्ती।''[4] चित्रा जिस प्रीतिकर तरीके से कवि से मिलती है वह उसे चौंकाने के लिए काफी है किन्तु मिलने से आगे का संवाद चौंकाने की मात्रा में गुणात्मक वृद्धि करता है। कवि ने मिलने के पश्चात् चित्रा को मित्रता का निमंत्रण दिया - 'आज से हम मित्र हैं' तो वह हंसते हुए जवाब देती है- 'अब हम मित्र हैं'।[5] 'आज से' के उत्तर में वह 'अब से' समयसूचक शब्द का प्रयोग करती है। बहुत सामान्य से लगने वाले इन दो प्रयोगों में इस कविता का एक महत्वपूर्ण निहितार्थ छिपा है। यह महज साधारण शब्द प्रयोग ही नहीं है अपितु आधुनिक जीवन के प्राय: सायास और स्वार्थ आधारित रिश्तों के समानांतर लोकरंग से समन्वित रिश्ते का आह्वान है। बिना किसी छोटे-बड़े, अच्छे-बुरे जैसे संकीर्ण भाव के, खुलेमन से मित्रता का स्वीकार है जो कवि को चौकाने के लिए काफी है। दरअसल वह जिस दौर का बाशिन्दा है उसमें सोच-समझकर, स्वार्थ के आधार पर रिश्ते बनाने की प्रथा है। उसके लिए यह अनुभव नया है किन्तु वांछनीय भी है। इसलिए चित्रा उसके खाली मन में बस जाती है। इस तरह जैसे राह की मेंहदी नासिका से होती हुई फेफड़ों में प्राय: बसा करती है।

''लेकिन आज/मन खाली नहीं था / चित्रा बस गयी थी।''[6] अलगाव के घरौंदे को एक बच्चा गिरा देता है और खाली मन स्नेह से, प्रेम से जुड़ने की आकांक्षा से भर जाता है। दरअसल उसे (कवि को) वह मिल जाता है जो जरूरी होते हुए भी गैरजरूरी चीज मानकर भुला दी गयी है। अगर यह बोध कवि को न होता तो अचानक, न तो इसके हृदय का विस्तार संभव था न उसके ये उद्‌गार संभव थे - आजकल का ढंग ही विचित्र। हमारे घर जितने ही निकट-निकट होते हैं। उतने ही दूर-दूर/हमारे मन/होते हैं/ यानी लगे हुए हम/ कितने अलग-अलग हैं।[7] इस अलगाव की एक प्रक्रिया है। उस प्रक्रिया को शह और गति देने वाली एक व्यवस्था है, संस्कृति है। जो मोहक और आकर्षक भी है तथा तार्किक और आधुनिक जीवन शैली के रूप में प्रचारित-प्रसारित है। यह कविता इसी व्यवस्था की सूक्ष्म चालाकियों को अप्रत्यक्ष रूप से डिकोड करती है। ये अलग बात है कि कविता हमें प्रत्यक्ष रूप से आधुनिक जीवन शैली की विसंगतियों में नहीं ले जाती है किन्तु कविता के सूत्र अनिवार्य रूप से उससे जुड़ते हैं।

कवि कहता है कि 'चित्रा उससे मिली नहीं उसे पा लेती है' इसे यूं भी कहा जा सकता है कि चित्रा का मिलना, मिलने की प्रचलित शैली से अलग है। अपने-अपने घरौंदों में सुरक्षित महसूस करने तथा स्वार्थ के आधार पर निर्मित रिश्तों से अलग, निःस्वार्थ भाव से किसी से मिलना, उन्मुक्त हंसी और हृदय का खुलापन इस मित्रता की तस्वीर में रंग भरते हैं। यही रंग अलगाव की बदरंग सच्चाइयों के प्रति हममें तीखा बोध जगाता है। यह कविता 1980 में प्रकाशित त्रिलोचन के काव्य संग्रह 'ताप के ताये हुए दिन' में संकलित है। इस समय तक नवउदारवादी व्यवस्था से उपजता विसंगतिमूलक शहरी जीवन व्यक्ति और व्यक्ति के रिश्ते को तेजी से परिवर्तित कर रहा था। गांव में भी समाज के टूटने की प्रक्रिया प्रारंभ हो चुकी थी। बहुत कुछ छोड़कर आगे बढ़ना आधुनिकता की दिशा में आगे बढ़ना था। लेकिन उस छोड़ दी गयी बातों में बहुत कुछ ऐसा भी था जो मनुष्य को मनुष्य और समाज से तार्किक आधार पर जोड़े हुए भी था। यह कविता इसी विडम्बनामूलक वस्तुस्थिति की स्वाभाविक परिणति है।

''यह नया अनुभव था। इसको अकेले ही/ लिए रहना मेरे लिए कठिन था/ घर में मैंने कहा/ थोड़े विस्तार से/पत्नी को सुनकर आनंद हुआ/ आनंद से सदा/आनंद होता है।'[9] मुक्त और प्रसन्न हृदय का स्वाभाविक रूप से विस्तार होता है। वह दूसरों को भी उस प्रसन्नता और मुक्ति का अंग बनाता है। उससे जुड़ता है। तब, अपरिचय की दीवारें टूटती हैं और मनुष्य के भीतर और बाहर बहुत कुछ जुड़ता है, वह अधिक क्षमतावान और पूरा बनता है। ''मैंने जिस भाव से / उसे देखा / उसको आनंद मैं कहता हूँ/ आनंद कभी-कभी/ मन पर छा जाता है/मन को कुछ ऐसा उभार दे जाता है / जो नया होता है / कमनीय होता है।''[10] मुक्त और आनंदित हृदय स्वयं के प्रति रहने वाले अतिरेकपूर्ण आग्रह और दूसरों के प्रति दुराग्रह से दूर हटता है। लोगों से जुड़ता है, उन्हें जोड़ता है। कुछ ऐसा ही कवि के साथ भी हो रहा था - ''हंसी केवल हंसी / हमें जोड़ रही थी / मैं तो टूटा-टूटा था।''[11]

त्रिलोचन इस तरह की बात अपनी अनेक कविताओं में करते हैं। 'ताप के ताये हुए दिन' काव्य संग्रह में एक लम्बी कविता है - 'मैं-तुम'। उसमें वे लिखते हैं - ''मानव समाज नर-नारी के हाथों से/व्यक्तियों, समूहों, वर्गों, देशों का रूप लिया करता है/व्यक्ति ही तो मूल है यहां वहां जो कुछ है/लेकिन व्यक्ति कितना असहाय है अकेले में।''[12] व्यक्ति का निःसंग होते जाना, उसका अकेलापन और समाज से अलगाव को त्रिलोचन आधुनिक जीवन की बड़ी समस्या के रूप में आंकते हैं। इसलिए उनकी 'लहरों में साथ रहे कोई'[13] की आकांक्षा स्वाभाविक है। व्यक्ति एक दूसरे से जुड़कर ही मजबूत बनता है उसमें आत्मविश्वास आता है। यह विश्वास ही उसे दुष्कर कर्म करने को प्रेरित करता है। चित्रा द्वारा कवि का हाथ पकड़ना इन्हीं संदर्भों की तरफ लेकर जाता है। 'चित्रा' तो निमित्त मात्र है। बात है व्यवहार की -''बच्ची नहीं /मुझे उसकी हंसी/रोक रही है।''[14] इस तरह का संबंध कोई किसी के साथ रच सकता है किन्तु खुले मन से, पूर्वाग्रहों और स्वार्थ से मुक्त होकर।

यह कविता त्रिलोचन की श्रेष्ठ कविताओं में एक है। अपने समय की जरूरत से तो यह जुड़ी ही हुई है साथ ही त्रिलोचन की रचना प्रक्रिया के महत्त्वपूर्ण सूत्र भी इस कविता में व्यक्त हुए हैं। यह कविता एक बच्चे द्वारा राह चलते कवि का हाथ पकड़ने पर और मित्रता के निमंत्रण पर आधारित है किन्तु वर्तमान जीवन के संकट को उसकी मूल संरचना में पकड़ती है। रोजमर्रा के जीवन में घर कर बैठी आदतों के चलते भविष्य में पैदा होने वाले संकट का प्रश्न उठाती है।

त्रिलोचन शास्त्री हिन्दी काव्य परंपरा की उस पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनका काव्य अपनी जमीन की स्वाभाविक चिंताओं से उपजता है और उसे प्रशस्त करता है। वे प्राय: बहुत छोटी-छोटी बातों से, रोजमर्रा के जीवन के घटनाक्रमों से, सामाजिक कार्य-व्यवहार से अपनी कविताएँ बनाते हैं, किन्तु उनकी प्रस्तुति ऐसी होती है कि बिना दावे, या शोर-शराबे के मनुष्य के रिश्ते मनुष्य और संस्थाओं का संबंध तथा सामान्य मनुष्य का संपूर्ण जीवन समस्त आशा-निराशा, घात-प्रतिघात के साथ परत-दर-परत खुलता चला जाता है। त्रिलोचन घोषित रूप से मार्क्सवादी कवि हैं किन्तु उस चेतना का उपयोग उन्होंने अपने तरीके से किया है। उनकी कविताएं अपनी विचारधारा का सायास प्रकृतिकरण नहीं करती हैं लेकिन कविता से वह स्वयं ही स्वाभाविक ढंग से उभरती जाती है। उन्होंने अपनी विचारधारा से आवेग और उत्साह के स्थान पर आशा और विश्वास को अधिक महत्त्व दिया है। 'नारे' के बजाय जीवन के प्रवाह में शामिल संघर्ष को अपने दौर की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में स्वीकार किया है। वे बहुत हद तक जीवन को उसके प्रकृत रूप में पकड़ते हैं। इसलिए उनके पात्र भी बिना किसी कृत्रिमता के उनकी कविताओं में व्यक्त होते हैं, अपनी अनगढ़ता और बनावट को संभाले हुए। स्वप्निल श्रीवास्तव ठीक ही कहते हैं - ''वे नक्काशी करने वाले सुनार नहीं हैं बल्कि अनगढ़ लोहार हैं''[14] क्योंकि कृत्रिमता जीवन को संबंधों को सामान्य नहीं रहने देती। खुले मन से मिलने नहीं देती। चित्र जम्बोरकर की तरह 'आज' के स्थान पर 'अब हम मित्र हैं' कहने नहीं देती।

सन्दर्भ-सूची

1. ''आज मैं अकेला हूं/अकेले रहा नहीं जाता/जीवन मिला है यह / रतन मिला है यह/ धूल में / कि / फूल में / मिला है / तो / मिला है / मोल-तोल इसका/ अकेले कहा नहीं जाता/'' संपादक - केदारनाथ सिंह, त्रिलोचन, प्रतिनिधि कविताएँ (आज मैं अकेला हूँ) पृ. 50, राजकमल पेपरबैक, तीसरी आवृत्ति, 2008 / 2. ''प्रयोगवादी कवि की तरह वह सुख या दुख कुछ भी अकेले-अकेले नहीं झेलना चाहता है। यही समाजिकता प्रगतिशील कवि में वास्तविक देश-प्रेम जगाती है।'' नामवर सिंह, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ (प्रगतिवाद) पृ. 79, लोकभारती प्रकाशन, नवीन संस्करण - 2001 / 3. संपादन एवं संकलन - गोविन्द प्रसाद, त्रिलोचन के बारे में (ग.मा. मुक्तिबोध -धरती : एक समीक्षा), वाणी प्रकाशन, 1994 / 4. संपादक - केदारनाथ सिंह, त्रिलोचन - प्रतिनिधि कविताएँ (चित्रा जम्बोरकर) पृ. 67 / 5. ''चित्रा से मैने कहा / चित्रा जम्बोरकर / आज से हम मित्र हैं / उसने भी हंसते हुए मुझसे कहा / अब हम मित्र हैं।'' वही, पृ. 67 / 6. वही, पृ. 67-68 / 7. वही, पृ. 68 / 8. ''चित्रा / जब मुझे पहले पहल मिली / लेकिन वह / मुझे कहां मिली/उसने मुझे पा लिया।'' वही, पृ. 68 / 9. वही, पृ. 69 / 10. वही, पृ. 71 / 11. वही, पृ. 71 / 12. वही (मैं-तुम), पृ. 34 / 13. ''बांह गहे कोई / अपरिचय के / सागर में / दृष्टि को पकड़कर / कुछ बात कहे कोई / लहरे ये / लहरे वें / इनमें ठहराव कहां / पल / दो पल / लहरों में साथ रहे कोई।'' वही, (लहरों में साथ रहे कोई), पृ. 35-36 / 14. वही, (चित्रा जम्बोरकर) पृ. 70 / 15. संपादन एवं संकलन, गोविन्द प्रसाद, त्रिलोचन के बारे में (स्वप्निल श्रीवास्तव - जीवन के प्रवाह में कविता) पृ. 222।

डॉ. भुवाल सिंह ठाकुर, सहायक प्राध्यापक, शासकीय महेन्द्र कर्मा कन्या महाविद्यालय, दन्तोवाड़ा, छत्तीसगढ़, ई–मेल : bhuwal.singhthakur@gmail.com
मो0 : 9479091195, 7509322425

भारतेन्दु युगीन आर्थिक चिंतन

डॉ. भुवाल सिंह ठाकुर

राष्ट्रवादी नेताओं से पहले भारतेन्दु ने अंग्रेजों के आर्थिक शोषण, धान का विदेश जाना, अकाल, टैक्स आदि आर्थिक पहलुओं का प्रभावशाली चित्रण साहित्य में किया है। भारतेन्दु युग के रचनाकर्म को पढ़ते हुए प्रेमचंद बरबस याद आते हैं। प्रेमचन्द ने 'साहित्य का उद्देश्य' व्याख्यान में कहा था- ''वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सचाई नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है।''

19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के समय भारतेन्दु और उसके सहयोगियों ने रचनाकर्म आरंभ किया। इस समय को नवजागरण काल कहा जाता है। नवजागरण से आशय- वह समय जब देशवासियों ने नए ढंग से सोचना विचारना शुरू किया। यह नवजागृति सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक सभी क्षेत्रें में दिखाई देती है। नवजागरण सचेत होने का बोधक है।

भारतेन्दु युग के रचनाकारों ने ब्रिटिश सत्ता के साम्राज्यवादी शोषण का यथार्थ चित्रण किया है। भारतीय इतिहास के आर्थिक पक्ष पर चर्चा करते हुए आर सी. दत्त की प्रसिद्ध पुस्तक 'भारत का आर्थिक इतिहास' पर बात होती है। दादाभाई नौरोजी के धान के बहिर्गमन' सिद्धांत एवं महादेव गोविन्द रानाडे द्वारा प्रस्तुत आर्थिक विश्लेषण की चर्चा की जाती है। इन राष्ट्रवादी नेताओं ने अंग्रेजों के आर्थिक शोषण का आलोचनात्मक अध्ययन देशवासियों के सामने रखा।

दादाभाई नौरोजी ने 'धान के बहिर्गमन', का सार कुछ इस तरह रखा था -'यह आर्थिक नियमों का निर्दयतापूर्ण अभियान नहीं है अपितु यह ब्रिटिश नीतियों

की विवेकरहित एवं निर्दयतापूर्ण कार्यवाही है । यह भारतीय संसाधानों का भारत में ही निर्दयतापूर्ण भक्षण है तथा और आगे यह भारतीय धान का इंग्लैण्ड को निर्दयतापूर्ण निकास है । यह भारतीयों की निर्दयतापूर्ण हत्या है तथा भारत के सर्वनाश की तैयारी है ।' 'धान के निकास' के विषय में आर0 सी0 दत्त का विचार है – 'भारत से इंग्लैण्ड को धान का निकास एक भारतीय कवि के उपमा के समान था, जिसमें एक राजा का अपनी प्रजा से अधिक धान ग्रहण करना सूरज द्वारा पृथ्वी से उस पानी को प्राप्त करने के समान होता है, जो वह वर्षा के रूप में पुनः भूमि को दे देता है । परंतु यहां तो सूरज, पानी भारत से ग्रहण करता है और वर्षा इंग्लैण्ड में करता है।'

भारतेन्दुयुगीन रचनाकर्म और राष्ट्रवादी नेताओं के चिंतन को एक साथ रखकर पढ़ने पर कई दिलचस्प सवाल उभरते हैं । इस काल में विशेष लक्षित करने वाली बात यह है कि राष्ट्रवादी नेताओं की पैठ साधारण जन तक अभी नहीं बन पाई है । राष्ट्रवादी नेताओं का चिंतन लोक मानस में व्याप्त नहीं हो पाया है । मूल भारत जिनका चिंतन राष्ट्रवादी विश्लेशकों ने किया है वह साधारण जन की निजभाषा में भी नहीं है । जिसे जनता आसानी से समझ सके ।

भारतेन्दु और उनके सहयोगी रचनाकारों ने 'धान निकास' की चुभती पीड़ा को उत्तर भारतीय समुदाय की निजभाषा में व्यक्त किया है । अकारण नहीं हिन्दी प्रदेश में नवजागरण का नेतृत्व साहित्यकारों द्वारा सम्पन्न हुआ ।

राष्ट्रवादी नेताओं से पहले भारतेन्दु ने अंग्रेजों के आर्थिक शोषण, धान का विदेश जाना, अकाल, टैक्स आदि आर्थिक पहलुओं का प्रभावशाली चित्रण साहित्य में किया है। भारतेन्दु युग के रचनाकर्म को पढ़ते हुए प्रेमचंद बरबस याद आते हैं। प्रेमचन्द ने 'साहित्य का उद्देश्य' व्याख्यान में कहा था– ''वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सचाई नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है।'' 1

'वह' से तात्पर्य यहाँ साहित्य से है। भारतेन्दु इस बिंदु पर राष्ट्रवादी नेताओं के मार्गदर्शक की भूमिका में खड़े है। साहित्य समय की आहट को सर्वप्रथम पहचानता है। भारतेन्दु का लेखन इसका प्रमाण है। इसका कारण नवजागरण की सचेतन जागरूकता है। भारतेन्दु ने अंग्रेजो के आर्थिक शोषण को भारत–दुर्दशा का मूल कारण माना है। भारतेन्दु का लेखन राष्ट्रवादी आन्दोलन को नई दिशाएँ दिखाने वाला है। उन्होंने देश के अर्थतन्त्र का जो चित्रण किया है, वह साहित्य और जीवन के रिश्ते को नए ढंग से परिभाषित करता है।

भारतेन्दु ने भारत की स्थिति का यथार्थ चित्रण करते हुए अपने प्रसिद्ध नाटक 'भारत–दुर्दशा' में अंग्रेजी राज को 'भारत–दुर्देव' कहा है। उन्होंने इस नाटक में भारत की दुरावस्था का समाधान स्वदेशीयता की भावना एवं उद्योग–धन्धों के विकास में देखा। भारतेन्दु अंग्रेजों द्वारा प्रजा से अधिक टैक्स वसूलने, विदेशी वस्तुओं के आयात के कारण देश की बढ़ती निर्धानता पर क्षोभ प्रकट करते हैं। देश की दरिद्रता का मूल कारण अत्यंत सरल शब्दों में रखते हैं–

''पै धान विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी।'' 2
अंग्रेजों के आर्थिक शोषण के कारण ही उन्होंने लिखा-
''रोवहुँ सब मिलिकै आवहुँ भारत भाई।
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई।।''3

'भारत-दुर्दशा' नाटक का अन्त निराशाजनक होता है। इस पर टिप्पणी करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा कहते हैं-''भारत-दुर्दशा उस लेखक की निराशा प्रकट करता है जो अंग्रेजी राज का भक्त रहा है, लेकिन जिस राज्य ने जनता को निर्धन, गुलाम और अपाहिज बनाकर उसकी सब आशाओं पर पानी फेर दिया है।''4

भारत की दु:खदायी स्थिति पर बालकृष्ण भट्ट ने लिखा- ''देश का धान विलायत ढोया जा रहा है। कितना भारी पाप हम कर रहे हैं तथा हजारों-हजारों, लाखों विलायती साहब लोग जो थोड़ा ही परिश्रम कर अल्पायाम् महत् फलम् की भाँति लंबी-लंबी तनख्वाहें फटकार असंख्य रूपया जमाकर विलायत में इंडियन जाय नवाब बनते हैं।'' 5

भारत की भुखमरी का चित्रण करते हुए भारतेन्दु कहते हैं- ''कपड़े बनाने वाले, सूत निकालने वाले आदि सब भीख मांगते हैं। खेती करने वालों की यह दशा है कि तुंबा ले भीख मांगते हैं और जो निरू हैं उनको तो अन्न की भ्रांति है।''6 बदरीनारायण चौधारी 'प्रेमघन' ने अंग्रेजों के आर्थिक लूट को लक्ष्य करते हुए कहा-

''लूट विलायत भारत खाय।
मालताल बहु-विधि फैलाय।''7

इसी बात को भारतेन्दु कुछ इस तरह व्यक्त करते हैं-

''जब अंग्रेज विलायत से आते हैं प्राय: कैसे दरिद्र होते हैं और जब हिन्दुस्तान से अपने विलायत को जाते हैं तब कुबेर बनकर जाते हैं।'' 8 भारतेन्दुयुगीन रचनाकारों की यथार्थ वाणी को बोर्ड ऑफ रेवेन्यु मद्रास जॉन सुलीवन स्वयं महसूस करते हैं - 'हमारी प्रणाली एक ऐसे स्पंज के रूप में काम करती है, जो गंगा की किनारों से प्रत्येक अच्छी वस्तु सोख लेती है तथा उसे फिर टेम्स के किनारे निचोड़ देती है ।'

अंग्रेजों के दमनकारी नीतियों के कारण भारत की दुर्दशा विकट हो गई थी। अकाल, महामारी का प्रकोप चारों तरफ व्याप्त है-

''बिन धान अन्न लोग सब ब्याकुल
भई कठिन विपत नर-नारी को।
चहुं दिसि काल परयो भारत में
भय उपज्यो महामारी को।''9

भारत दुर्दैव कहता है-

''मरी बुलाउँ देस उजाड़ूँ, महंगा करके अन्न।
सबके उपर टिकस लगाउँ धान है मुझको धान्न।
मुझे तुम सहज न जानो जी, मुझे इक राक्षस जानो जी।''10

डॉ. रामविलास शर्मा इन पंक्तियों के यथार्थ पक्ष पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं- ''लेकिन टैक्स कौन लगाता था?अन्न किसने महंगा किया था?देश कौन उजाड़ रहा था?यह देखना मुश्किल नहीं है कि ये सब काम भारत में अंग्रेजी राज्य कर रहा था। वास्तव में भारत दुर्दैव अंग्रेजी राज्य का ही दूसरा नाम है।''11 उन्होंने आगे लिखा है-''भारतेन्दु की महत्ता इस बात में है कि वह अंग्रेजी राज्य के सच्चे और कटु आलोचक थे। उनके नाटकों, कविताओं और निबन्धों ने जनता को अंग्रेजी राज्य के अन्याय और शोषण के प्रति सचेत किया। भारतेन्दु ने अंग्रेजी राज्य की सभ्यता, नेकनीयती और जनतन्त्र का पर्दाफाश कर दिया।'' 12

अकाल की भयावहता के विषय में राधाकृष्ण दास लिखते हैं-

''कौन नाज का कहै ठिकाना, कौन घास औ चारे का।
जल का टोटा प्राण बचै क्यों जल बिन हाय विचारे का।'' 13

भारतवर्ष के इस भीषण दुर्भिक्ष में मनुष्य से लेकर सम्पूर्ण प्रकृति व्याकुल थी। पशु, पक्षी जल के बिना तड़प रहे थे। अन्न, जल सभी कुछ समाप्त प्राय हो गया था। इस भीषण दुर्भिक्ष का वर्णन भारतेन्दु युग के सभी रचनाकारों ने यथार्थ रूप में किया है। रवि शंकर नामक कवि ने इस दारूण दु:ख का आँखों देखा वर्णन किया है-

''अब तो सम्वत् ऐसो आयो, भारत में दारूण दु:ख छायो।
गली-गली में भूखे डोले, व्याकुल सारस वाणी बोलें।।
तन पै केवल रही लंगोटी, मिले न हाय पेट भर रोटी।
बीन-बीन कर दाने कच्चे, चाबत फिरे बिचारे बच्चे।।
छाती फारि भेदिनी डोली, आंख तीसरी हर ने खोली।
मांगत मौत अनेक अभागे, बहुतन तड़प-तड़प तन त्यागे।।'' 14

जनता की दरिद्रता पराकाष्ठा तक पहुँच गई। अकालों कीशृंखला ने इसे डरावना बना दिया। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध भारतेन्दु युग में दुर्भिक्ष की विनाश लीला भयावह थी। इसका मूल कारण अंग्रेजों द्वारा भारतीय जनता का आर्थिक शोषण था। प्रोफेसर बिपनचन्द्र लिखते हैं- ''इनमें से पहला अकाल पश्चिमी उत्तर प्रदेश में 1860-61 में पड़ा जिसमें दो लाख आदमियों की जानें गई। 1865-66 में अकाल ने उड़ीसा, बंगाल, बिहार और मद्रास को धर दबोचा और 20 लाख लोगों की जाने ले ली।.....1868-70 के अकाल में 14 लाख से अधिाक लोग पश्चिमी उत्तर प्रदेश, बंबई और पंजाब में मर गए।''15

समय बीतने के साथ भारतवासियों के लिए रोजगार या जीविका प्राप्त करना दुर्लभ हो गया। देश में बेरोजगारी बढ़ने लगी। ब्रिटिश आर्थिक शोषण के परिणामस्वरूप देशी उद्योगों का ह्रास हुआ। इनकी जगह लेने में आधुनिक उद्योग मिल रहे। करों की ऊँची दर ने गरीब जनता की कमर तोड़ दी। भारतीय जनता की गरीबी के मुख्य कारणों में अंग्रेजों द्वारा भारत का धान ढोकर ब्रिटेन ले जाना, भारतीय कृषि का पिछड़ा हुआ ढाँचा एवं गरीब किसानों का जमींदारों, भू-स्वामियों, राजाओं, महाजनों, व्यापारियों और राज्य द्वारा शोषण के चौतरफा जाल प्रमुख थे। इन सब कारणों से भारत पिछड़ा हुआ, शोषित और बदहाल देश बन गया। ''ऐसी स्थिति में भारतेन्दु ने 'स्वदेशीयता' का नारा दिया। स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग से एक तरफ जहाँ देश में उत्पादन और बेरोजगारी दूर होगी, दूसरी तरु विदेशों से कम वस्तुएँ आएँगी, जिससे देश का धान विदेश न जा पायेगा। यह है 'स्वदेशीयता' जिसकी चर्चा भारतेन्दु के पूर्व 1857 की क्रान्ति के समय होने लगी थी। बंगाल, महाराष्ट्र में 'स्वदेशी' शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था। कालांतर में गांधी जी ने स्वाधीनता आंदोलन में स्वदेशीयता को एक हथियार के रूप में प्रयोग किया। लेकिन भारतेन्दु को इस बात का श्रेय जाता है कि उन्होंने स्वदेशीयता के मंत्र के लिए व्यापारियों, शिक्षित और साधारण लोगों से अपील की।''16 भारतेन्दु के स्वदेशी के लिए संघर्ष में हिन्दू-मुसलमान सभी भारतवासी शामिल है।

हिन्दी प्रदेश में स्वदेशी की विचारधारा सर्वप्रथम भारतेन्दु के व्यक्तित्व में प्रकट हुई। उन्होंने अंग्रेजी राज के शोषक चरित्र को उद्घाटित किया। भारतेन्दु भारतवर्षोन्नति के लिए नवजागृति एवं देशप्रेम के संदेश वाहक रचनाकार थे।

भारतेन्दु एक साहित्यकार के रूप में ही नहीं वरन् देशभक्त के रूप में भी अनेक आन्दोलनों के अग्रदूत थे। 1874 ई. में उन्होंने विलायती कपड़े का बहिष्कार का व्रत लिया था और सम्पूर्ण भारतवासियों को विदेशी वस्त्र के बहिष्कार के लिए प्रेरित किया। 23 मार्च 1874 ई. के ऐतिहासिक दिन जब 'कविवचनसुधा' में एक प्रतिज्ञापत्र प्रकाशित हुआ- ''हम लोग सर्वान्तर्यामी सब स्थल में वर्तमान सर्वदृष्टा और नित्य सत्य परमेश्वर को साक्षी देकर यह नियम बनाते हैं और लिखते हैं कि हम लोग आज के दिन से कोई विलायती कपड़ा न पहिनेंगे और जो कपड़ा पहले से मोल ले चुके हैं और कीमती तक हमारे पास है उनको तो उनके जीर्ण हो जाने तक काम में लावेंगे पर नवीन मोल लेकर किसी भांति का विलायती कपड़ा न पहिनेंगे, हिन्दुस्तान ही का बना कपड़ा पहिनेंगे। हम आशा रखते हैं कि इसको बहुत ही क्या प्राय: सब लोग स्वीकार करेंगे और अपना

नाम इस श्रेणी में होने के लिए श्रीयुत बाबू हरिश्चन्द्र को अपनी मनीषा प्रकाशित करेंगे और सब देशहितैषी इस उपाय की वृद्धि में अवश्य उद्योग करेंगे।''17

इस प्रतिज्ञापत्र के विषय में डॉ. रामविलास शर्मा की टिप्पणी उल्लेखनीय है- ''हिन्दी भाषी जनता इस बात पर गर्व कर सकती है कि उसके नवजागरण के वैतालिक हरिश्चन्द्र ने चौबीस वर्ष की अवस्था में स्वदेशी के व्यवहार की यह गम्भीर प्रतिज्ञा की थी। उस दिन तरूण हरिश्चन्द्र ने न केवल हिन्दी प्रदेश के लिए वरन् समूचे भारत के लिए एक नए युग का द्वार खोल दिया था। उस दिन राष्ट्रीय स्वाधीनता के पावन उद्देश्य से हिन्दी साहित्य का अटूट गठबन्धन हो गया था। उस दिन हरिश्चन्द्र की कलम से भारतीय जनता ने अंग्रेजी राज के नाश का वारंट लिख दिया था।''18

इस प्रतिज्ञापत्र का ऐतिहासिक महत्व है। इस प्रतिज्ञापत्र से यह प्रकट होता है कि भारतेन्दु केवल साहित्यकार न थे वरन् साहित्यकार के साथ अपने सम्पूर्ण देश की सामाजिक, राजनीतिक चेतना से सम्पन्न थे। भारतेन्दु की चेतना का निर्माण नवजागरण के मूल्यों से हुआ था। अपने आस-पास के जीवन में घटित होने वाली स्थितियों का उन्होंने संवेदनशील वर्णन किया है। भारतेन्दु देश दशा के प्रति जाग्रत रचनाकार है।

हिन्दी प्रदेश में स्वदेशी की विचारधारा सर्वप्रथम भारतेन्दु के व्यक्तित्व में प्रकट हुई। उन्होंने अंग्रेजी राज के शोषक चरित्र को उद्घाटित किया। भारतेन्दु भारतवर्षोन्नति के लिए नवजागृति एवं देशप्रेम के संदेश वाहक रचनाकार थे।

भारतेन्दु के स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार को उस दौर के सभी रचनाकारों ने आंदोलन का रूप दिया। 'प्रेमघन' ने स्वदेशी भावना को केन्द्र में रखकर ''स्वदेशी वस्तु स्वीकार और विदेशी वस्तु बहिष्कार'' शीर्षक लेख लिखा- ''हम लोगों को इतना विचार नहीं कि विदेशी लोग तो स्वदेशानुराग के कारण सात समुद्र पार से भी यहाँ अपने देश के पदार्थ को कार्य में लाते हैं और हम अपने देश में बनी वस्तुओं को छोड़ विदेशी पदार्थ ले लेकर भकुआ बनने के प्रत्यक्ष प्रमाण बनते हुए अपने देश के उद्यम का सर्वनाश कर रहे हैं।... स्वदेशी वस्तु प्रचार के लिए विदेशी वस्तु बहिष्कार एक प्रधान आधार या मुख्य साधान है।''19

बालकृष्ण भट्ट ने अपने प्रसिद्ध लेख ''भारत की आरत दशा'' में लिखा- ''इतना विलायती कपड़ा यहाँ आता है कि पन्द्रह करोड़ रूपया प्रतिवर्ष केवल कपड़े के मध्ये विलायत जाता है।... यदि विलायती चीजें यहाँ न आवें तो हर साल पन्द्रह करोड़ रूपया देश में रह जाए।''20

भारतेन्दु युग के सभी रचनाकारों ने देश में उद्योगों की दयनीय दशा पर, अंग्रेज शासन पर रोष प्रकट किया है। घरेलू उद्योगों के नष्ट होने के कारण बढ़ती बेरोजगारी एवं विदेशी सामानों के आयात के कारण देश की आर्थिक दुर्दशा का जीवन्त चित्रण इस दौर की रचनाओं में मिलता है। इस युग के रचनाकारों ने इन सब स्थितियों के लिए औपनिवेशिक व्यापार नीति की जोरदार शब्दों में आलोचना की है। भारतेन्दु के स्वदेशी के प्रचार के मूल में देश के उद्योगीकरण के लिए संघर्ष के

प्रयास शामिल है। उन्होंने अपने लेखों, कविताओं में बार-बार यह रेखांकित किया है कि 'उद्योगीकरण के बिना देशोन्नति असंभव है।' औद्योगीकरण से देश के विकास की बात भारतीय नवजागरण के अग्रदूत राममोहन राय ने भी किया था। 9 मार्च 1874 की 'कविवचन सुधा' में भारतेन्दु देश के उद्योगीकरण के पक्ष में विचार रखते हैं- ''वहाँ एक लक्ष बाइलर, भाप के यंत्र हैं और एक-एक की शक्ति 80 घोड़ों की है एक घोड़े की शक्ति 8 मनुष्य के बराबर है तो इस हिसाब से 80 लाख घोड़े अर्थात् तीन करोड़ बीस लाख मनुष्यों का काम इन यन्त्रों के द्वारा होता है। मनुष्य तो काम करते-करते थक जाते है पर ये यंत्र कभी नहीं थकते और मनुष्यों के समान चार आना आठ आना रोज नहीं देना पड़ता केवल इसमें अग्नि प्रदीप्त करने से चलने लगते हैं.... इस वृतान्त से स्पष्ट हुआ कि परदेश के कला-कौशल्य ने इस देश पर चढ़ाई किया ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था।''21

स्पष्ट है भारतेन्दु और उसके समकालीन लेखक भारत का धान विदेश जाना बन्द हो इस बात को बार-बार दुहराते हैं। इस युग का साहित्य स्वदेशी और स्वाधीनता की समस्या को जनमानस के सामने रखते हैं। पूरी शक्ति के साथ ब्रिटिश औपनिवेशिक अर्थतन्त्र की निर्मम आलोचना करते हैं। अंग्रेजों के साम्राज्यवादी चरित्र के विरूद्ध दृढ़ता पूर्वक अपने विचार रखते हैं। इन सबके केन्द्र में भारतीय जनता को भावी स्वतन्त्रता संघर्ष के लिए तैयार करना था।

भारतेन्दुयुगीन 'स्वदेशी' आचरण के गहरे स्तरों को प्रभावित करती है । गुलामी से मुक्ति और आत्मनिर्भरता सचेत संदर्भों से जोड़ती है । भारत की विवशता में स्वत्व बोध को वाणी देती है । बलियावाला व्याख्यान में जिस स्वदेशी की चर्चा की गई है, वह राजनीति से पहले की सजग चेतना का परिचायक है । आज का स्वदेशी क्या इन संदर्भों में से किसी एक भी संदर्भ से जुड़ पाती है । यह विकट प्रश्न है । आज 'स्वदेशी' नारा है । वक्तव्य है । मुखौटा है । पाखंड है । अवसरवादिता है । अतिरिक्त देशप्रेम का प्रदर्शन है । उपभोक्ता की अंतहीन सुविधाओं में भारतेन्दुयुगीन स्वदेशी के अर्थ और व्यवहार का क्षरण हुआ है ।

भारतेन्दुयुगीन सजग इतिहास बोध भारतीय इतिहासकारों को सत्य के ज्यादा निकट ले जाने की संभावना से युक्त है इस पर शोध की संभावनाएँ हैं ।

वर्तमान भारत के संदर्भ में भारतेन्दु युग के रचनाकारों का आर्थिक चिंतन विशेष महत्व का है । इस पर निरंतर चर्चा होनी चाहिए । बाजार के सर्वग्रासी रूप एवं मेक इन इण्डिया के समय में भारतेन्दु युग का आर्थिक चिंतन जिसके मूल में भारत की अस्मिता थी । हमें प्रतिरोध के स्वर में बहुत कुछ कहता है ।

संदर्भ सूची -

1. साहित्य का उद्देश्य - प्रेमचंद, पृ. 15, जनवाणी प्रकाशन प्रा. लि., सं. 2012
2. भारतेन्दु समग्र - संपादक, हेमंत शर्मा, पृ. 461, हिन्दी प्रचारक संस्थान वाराणसी, प्र.

सं. 1897

3. भारत – दुर्दशा – भारतेन्दु पृ. 53, अनुपम प्रकाशन पटना, द्वि.सं. 2002

4. भारतेन्दु हरिश्चंद्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ– डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. 63, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2004

5. बालकृष्ण भट्ट के निबंधों का संग्रह – पृ. 91, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, सं. 1960

6. नवजागरण और प्रताप नारायण मिश्र – भगवती प्रसाद शर्मा, पृ. 70, राधा पब्लिकेशन्स –नई दिल्ली, प्र.सं. 1994

7. प्रेमघन सर्वस्व – भाग एक – पृ. 70, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, द्वि.सं. 1961

8. कविवचन सुधा, 18 मई 1874, पृ. 186

9. होली पर लिखा फाग – राधाचरण गोस्वामी, पृ. 27, संदर्भ डॉ. रामविलास शर्मा का काव्य संसार – निर्मल सिंघल

10. भारत दुर्दशा – भारतेन्दु, पृ. 57

11. भारतेन्दु हरिश्चंद्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ– डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. 63

12. वही – पृ. 63

13. राधाकृष्ण ग्रंथावली – भाग एक, पृ. 20, संपादक श्यामसुंदर दास, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, प्र.सं. 1930

14. महाकवि शंकर स्मृति – पृ. 177, पर उद्धृत, संदर्भ –नवजागरण और प्रताप नारायण मिश्र, पृ. 71

15. आधुनिक भारत – बिपनचन्द्र, पृ. 133–134, अनुवाद श्यामबिहारी राय, एन.सी.ई.आर.टी. नई दिल्ली– सातवां सं. 1997

16. नवजागरण और प्रताप नारायण मिश्र –पृ. 71

17. भारतेन्दु हरिश्चंद्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ– पृ. 74

18. वही – पृ. 74

19. प्रेमघन सर्वस्व – भाग दो – पृ. 250

20. बालकृष्ण भट्ट के निबंधों का संग्रह – पृ. 263

21. भारतेन्दु हरिश्चंद्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ – पृ. 76

डॉ. चैनसिंह मीना, हिन्दी विभाग, पी.जी.डी.ए.वी. कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, नेहरू नगर–110065, मो0 : 08010081419, ई–मेल : csmeena.foa@gmail.com

हिंदी दलित काव्य में स्त्री जीवन : संवेदना और सरोकार

डॉ. चैनसिंह मीना

हिंदी दलित साहित्य के अंतर्गत स्त्री–अस्मिता एक अहम मुद्दा है काव्य भी इससे अछूता नहीं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि दलित स्त्री ने दोहरा-तिहरा शोषण सहा है अतः उसका जीवन-संघर्ष निसंदेह अधिक व्यापक ठहरता है। पितृसत्ता और जातिप्रथा के अधीन घर की चारदीवारी से लेकर चौराहे तक उसकी गलत छवि निर्मित की गई। ऐसे में कहा जा सकता है कि दलित समाज की स्त्री स्वयं के बारे क्या सोचती है यह केवल वही और वही प्रामाणिक रूप से व्यक्त कर सकती है।

हिंदी दलित काव्य के अंतर्गत स्त्री जीवन और उसके व्यापक संघर्ष को कई आयामों में देखा–परखा गया है। दलित स्त्री को लेकर यहाँ दो दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से सामने आते हैं। पहला दलित कवियों द्वारा चित्रित स्त्री जीवन एवं दूसरा और सबसे महत्वपूर्ण स्वयं दलित कवयित्रियों द्वारा चित्रित स्त्री जीवन। हिंदी काव्य के अंतर्गत भी स्त्री जीवन और उसके सरोकारों की तरफ ध्यान काफी देर से दिया गया। कमोवेश यही प्रवृति हिंदी के दलित काव्य में मौजूद है। यहाँ भी स्त्री जीवन और उसके सरोकारों पर बाद में फोकस किया गया खासकर तब जब स्वयं दलित स्त्रियाँ इस क्षेत्र में मुखर हुईं। आलोचक कंवल भारती इस विषय पर तुलनात्मक लहजे में उल्लेख करते हैं कि 'हिंदी दलित कविता में स्त्री स्वर काफी देर से आया। जब हिंदी की सवर्ण स्त्री ही मुखर नहीं हुई, तो दलित स्त्री की तो बात ही क्या? हिंदी में चाहे महादेवी वर्मा हों या सुभद्रा कुमारी चौहान, अभिजात वर्ग की सवर्ण स्त्री ने ही कविता–कर्म में प्रवेश किया। इसके पीछे भी उनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि का योगदान ज्यादा था, जिसमें वे अविवाहित थीं या फिर विधुर, और उसी के कारण वे अपने

निजी जीवन में अपना निर्णय स्वयं लेने की स्थिति में पहुँच पायी थीं। एक तो, इसलिये कि पढ़ने-लिखने की स्वतन्त्रता सवर्ण स्त्रियों में भी अभिजात वर्ग में थी, दलित स्त्रियों को यह सुविधा आजादी के बाद तक नहीं मिली थी और काफी हद तक यह आज भी नहीं है। दूसरे, इसलिये कि शिक्षित दलित स्त्रियाँ पति, बच्चे और चूल्हा-चौका की चारदीवारी में ही कैद रहीं।' हिंदी कविता में स्त्री और उसके पश्चात दलित स्त्री की उपेक्षा चिंता का विषय होना स्वाभाविक ही है। दलित कवि और आलोचक ओमप्रकाश वाल्मीकि ने इस अनदेखी को पूरी शिद्दत से रेखांकित किया है- 'एक दलित स्त्री तमाम विपरीत परिस्थितियों में अपने परिवार का उत्तरदायित्व जिस ऊर्जा और मानवीय सामाजिक सरोकारों के साथ वहन करती है, उसे अनदेखा करना स्त्री के साथ अन्यायपूर्ण कृत्य ही कहा जाएगा।' इस अन्याय, अनदेखी, शोषण का सबसे बड़ा कारण नजर आता है उसका 'स्त्री होना'। इस वास्तविकता को और अधिक स्पष्ट करने के लिए केवल भारती की कविता दृष्टव्य है- 'चिड़िया भूखी थी इसलिए गुनहगार थी मारी गई वह चिड़िया जो भूखी थी गोरख पांडेय ने गलत लिखा था वह चिड़िया भूख से नहीं चिड़िया होने से पीड़ित थी वह चिड़िया थी इसलिए गुनहगार थी चिड़िया जो मारी गई।' दलित स्त्री का शोषण कई स्तरों पर होता है। इसी शोषण को दलित कवि-कवयित्रियों ने चित्रित किया है। सी.बी.भारती ने अपनी कविता में दलित समाज और उसके अंतर्गत दलित स्त्री के सदियों पुराने शोषण को बखूबी उकेरा है- 'तुमने जी है गुलामी कीड़े-मकोड़ों से बदतर जिंदगीध छीजती इज्जत बिखरते सम्मानध लुटती बहन-बेटियों की आबरू तुमने भोगी है भोगी है!!'

आधुनिक काल तक स्त्री जीवन पर तमाम अवश्यकताएँ लादी गईं जो आज भी बदस्तूर जारी हैं। 19 वीं सदी में स्त्री जीवन में सुधार का दौर शुरू हुआ लेकिन उसे कानूनी, सामाजिक, आर्थिक आदि दृष्टि से सुदृढ़ करने में सबसे बड़ा नाम सामने आता है डॉ० भीमराव अंबेडकर का। उनके द्वारा निर्मित 'हिन्दू कोड बिल' इसका सबसे सशक्त प्रमाण है। दरअसल डॉ. अंबेडकर समाज की उन्नति स्त्री जीवन की उन्नति में ही देखने के पक्षधार थे। स्त्री संदर्भ में उनके विचारों को दलित काव्य के अंतर्गत देखा जा सकता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि 'झाड़ूवाली' शीर्षक कविता में लगभग इसी दिशा में या इसी तरह के भावों को व्यक्त करते हैं-

'जब तक रामेसरी के हाथ में
खडांग-खाँग घिसटती लौह गाड़ी है
मेरे देश का लोकतंत्र
एक गाली है!'

भारतीय समाज चूँकि पितृसत्तात्मक है अत: अधिकांशत: नवजात के संदर्भ में पुत्र को ही प्राथमिकता दी जाती है। दलित समाज में स्त्री-पुरुष कंधो से कंधा मिलाकर श्रम करते हुए साहचर्य का जीवन व्यतीत करते हैं लेकिन अभावों के चलते वहाँ भी स्त्री का जन्म अभिशाप बन जाता है। उत्सव के स्थान पर शोक जैसा मौहाल निर्मित हो जाता है। श्यौराज सिंह 'बेचैन' की

'औरत' कविता में इस स्थिति को देखा जा सकता है- 'पैदा हुई थी जिस दिन घर शोक में डूबा था बेटे की तरह उसका उत्सव नहीं मना था।' कवि की मान्यता है कि दलित स्त्री को अपने अधिकारों को पाना है तो उसे खुद ही लड़ाई लड़नी होगी- 'अब वक्त है वो अपने आयाम खुद बनाये तालीम हो या सर्विस अपने हकूक पाये मिल-जुल के विषमता की दीवार गिरानी है।' दलित काव्य के अंतर्गत स्त्री के मातृत्व रूप का भी चित्रण मिलता है- 'इसी लालटेन की रोशनी में बैठकर माँ फटे-उधड़े कपड़ों को हाथ से सिलती घर में एक-एक पैसे की तंगी और तों बिना छुकी-भुनी सब्जी भी घर में नहीं बनने के बाबजूद माँ लालटेन के लिये तेल की व्यवस्था जरूर करती थी कभी-कभी भूखी भी रह जाती थी ऐसा कई बार हुआ था पर तेल के अभाव में घर में लालटेन नहीं जली हो ऐसा कभी नहीं हुआ था।' (गूंगा नहीं था मैं, जयप्रकाश कर्दम) कवि ने माँ के प्रेरक रूप को भी चित्रित किया है- 'हम को वह सिर्फ पढ़ने के लिये कहती पढ़ाई-लिखाई ही तुम्हारी पूँजी है पढ़-लिख लोगे तो कहीं अच्छा हिल्ला पा जाओगे नहीं तो तसले ढोवोगे दूसरों की गुलामी करोगे।'

जमींदारों, पूँजीपतियों, उच्च वर्गों-वर्णों के लिए दलित समाज की स्त्री महज देह या खिलौना ही होती है। डॉ. एन. सिंह ने इस यथार्थ को सामने रखा है- 'महाजन की आँखों में खटके, मेरा जोवन गोरा रोज भेड़िया बनके ताके, जमींदार का छोरा।' दलित काव्य के अंतर्गत इस संदर्भ में स्त्री को चेतना युक्त करने का भी प्रयास हुआ है- 'पंखुड़ियाँ होठों की तेरे मसल कर ले गये सभी फिर भी बाहुएँ तेरी हुई नहीं खड्ग कभी।' दलित समाज से जुड़ी स्त्री अपने कितने ही सपनों को आँखों के आगे ही टूटता देखती है, चाहे वह शिक्षा हो या अन्य मूलभूत आवश्यकताएँ। कवि श्यामलाल शामी ने 'घृणित सोच' शीर्षक कविता में इस दर्द एवं वास्तविकता को उकेरा है- 'घीसू की बेटी को पढ़ने नगर, गाँव में जाना बनूँ शिक्षिका, उसने अपने मन में था यह ठाना नगर, गाँव से दूर पिता ने साइकिल लेकर दी थी उस पर चढ़कर चली बालिका, नव उमंग उपजी थी गुजरी गली बड़ों की सबने बड़ा बुरा था माना मिल कर 'घीसू' को धामकाया भयवश लड़ न सका उसने तो बेटी को समझाया, उतर साइकिल अब पैदल उनके द्वारे तक आना।' प्राचीन काल से लेकर आज तक समाज-संस्कृति का हर ताना-बाना या वातावरण दलित स्त्री को शिक्षा से दूर करने के तमाम हथकंडे अपनाता है- 'लगा जैसे एक भीड़ है आसपास, बेदखल होती बदहवास चारों ओर जलते घरों से उठता धुआँ जलते दरवाजे, खिड़कियाँ जिसे सहेज कर रखती थी करीने से मैं न पढ़ी न मेरे बालका शोषण करे है मिल मालिका।' (बिटिया का बस्ता, ओमप्रकाश वाल्मीकि) दलित स्त्री कर्तव्यबोध और अभाववश निरंतर अपना जीवन न्यौछावर ही करती रहती है। यह त्याग पीढ़ी दर पीढ़ी जारी रहता है- 'घर बुहारती औरत झाड़ती है कपड़े अपने बुहारती है खुद को अपने सपनों को।' घर बुहारती स्त्री, कैलाश दहिया दलित समाज की स्त्रियों पर होने वाले शोषण और बर्बरता को देखकर कवि प्रश्नात्मक शैली को अपनाने हेतु मजबूर होता है- 'यदि तुम्हें सरे आम बेइज्जत किया जाए छीन ली जाए संपत्ति तुम्हारी धर्म के नाम पर कहा जाए बनने को देवदासी तुम्हारी स्त्रियों को कराई जाए उनसे वेश्यावृत्ति धतब तुम क्या करोगे?' (तब तुम क्या करोगे, ओमप्रकाश

वाल्मीकि) अत: कहा जा सकता है कि पुरुष कवियों द्वारा दलित स्त्री और उसके जीवन संघर्ष को कई आयामों में रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। डॉ. निरंजन कुमार के अनुसार 'नारी के संदर्भ में साहित्य की प्रचलित परिपाटी (प्रेयसी, पत्नी, माँ, बहन) से भिन्न दलित कवियों ने स्त्री को एक वंचित-पीड़ित और संघर्षशील व्यक्ति के रूप में देखने का प्रयास किया है।'

हिंदी दलित साहित्य के अंतर्गत स्त्री-अस्मिता एक अहम मुद्दा है काव्य भी इससे अछूता नहीं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि दलित स्त्री ने दोहरा-तिहरा शोषण सहा है अत: उसका जीवन-संघर्ष निसंदेह अधिक व्यापक ठहरता है। पितृसत्ता और जातिप्रथा के अधीन घर की चारदीवारी से लेकर चौराहे तक उसकी गलत छवि निर्मित की गई। ऐसे में कहा जा सकता है कि दलित समाज की स्त्री स्वयं के बारे क्या सोचती है यह केवल वही और वही प्रामाणिक रूप से व्यक्त कर सकती है। राजहंस के अनुसार 'स्त्री होने के अनुभव तो एक स्त्री ही दर्ज कर सकती है। पुरुष रचनाकार से उसकी कल्पना करना भी अस्वाभाविक है।.....ऐसी बहुत सी दलित स्त्रियाँ हैं जो नहीं जानती कि महानगरों में किसी तरह के नारी मुक्ति, नारीवाद या स्त्री विमर्श आंदोलन भी चल रहे हैं। देश में एक भी स्त्री अशिक्षित रह जाए या ज्ञान व्यवस्था का लाभ उसे नहीं मिल पाए। तब तक हम कैसे अपने को सुशिक्षित, नारी मुक्तिवादी और विकसित राष्ट्र कहेंगे।' ऐसे में दलित काव्य के स्त्री स्वर की पड़ताल आवश्यक है। दलित काव्य के अंतर्गत स्त्री स्वर पहले पहल अनुसूया 'अनु' के यहाँ मिलता है। उनकी 'तू बन जा दीपक' एक महत्वपूर्ण एवं चेतना युक्त कविता है-

'तू बन जा दीपक अपना आप।
संकल्प प्रबल जीवन की धारा
निर्भरता संताप।
भर ले इतना तेल दीप में
घटे न लौ का ताप।'

सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि अवरोधों के बावजूद दलित-स्त्री अपनी पहचान स्वयं निर्मित करना चाहती है। इस संदर्भ में सुशीला टांकभौरे की महत्वपूर्ण कविता है-

'स्वयं को पहचानना है
चक्की में पिसते अन्न की तरह नहीं
उगते अंकुर की तरह जीना है।'

हिंदी दलित काव्य में दलित स्त्री को उसके वीभत्स, क्रूर एवं शोषण युक्त परिवेश के साथ चित्रित करने का प्रयास किया गया है-

'नीले रंग वाली देह
यह न उपमा है, न रूपक, न बिम्ब है न छंद

न लय है, न राग
न आप इसे कविता कह सकते हैं
यह कुम्हार के घड़े की तरह
दरअसल हर दिन पिटने वाली औरत है
नीले रंगों वाली औरत।'

पितृसत्ता के अधीन बेटियों की स्थिति या जीवन कैसा होता है? उनका जीवन कैसे निर्धारित किया जाता है यह ओमलता शक्य ने 'बेटियाँ' शीर्षक कविता में व्यक्त किया है-'बेटियाँ कुम्हार की गगरियों के समान होती है जिन्हें कुम्हार रूपी पिता उँगलियों व चाक से जन्मता है फिर काट देता है जड़ से अलग अलाव की आंच में पकाकर सहनशील बनाता है फिर सौंप देता है अन्य को और वे गगरियाँ जीवन पर्यंत बुझाती रहती हैं सबकी प्यास।' स्त्री शोषण की अतिशयता का ही परिणाम है कि दलित कवयित्री पुरुष की असामाजिक एवं विकृत मानसिकता को उजागर करने से भी नहीं चूकती- 'पुरुष रे पुरुष कान खोल सुन ले मैंने चाहा था तुम ऊँचा उठो क्षितिज के पार एक और दुनिया की खोज करो किन्तु तू काहे को मानेगा रे।' (प्रेरणा कविता, कावेरी) सुशीला टाँकभौरे की मान्यता है कि स्त्री यदि पुरुष वर्चस्व को नकार दे या स्त्रियोचित गुणों को त्याग दे तो उसके लिए कोई भी मंजिल असंभव नहीं- 'औरत अगर अलग कर दे अपनी कोमलता कमनीयता लचक और झनकार मय लय जैसे मेंहदी की मधुरता और नूपुरों की रुनझुन तो वह तनकर चल सकेगी खनकती चूड़ियों की जगह दे सकेगी शक्तिशाली हौसला उठाकर हाथ अपने पा सकेगी मंजिल की डोर।' यह स्त्री इतिहास, पुराण, परम्पराओं, रूढ़ियों, शास्त्रों, ग्रन्थों का भी तीव्र विरोध करती है- 'बन जाऊँ मैं सनातन परंपरा को तोड़ने हेतु तुम्हारे लिये अभिशाप गहरे कुएँ तक पहुँचा दूँ तुम्हारे चिंतन के आधार ग्रंथ।' (अनुत्तरित प्रश्न, सुशीला टाँकभौरे) स्त्री के दुख को क्या पुरुष कवि भी समान रूप से व्यक्त कर सकता है? सहानुभूति एवं स्वानुभूति को आधार बनाकर कवयित्री रजनी तिलक सवाल खड़ा करती है कि- 'कौन हैं वो नारी-सी जिल्लत झेली नहीं दलित-उत्पीड़न सहा नहीं महसूस करते हैं हो भाव विभोर मार्मिक कविताएँ लिखते हैं मैं हैरान हूँ उन्होंने हमारे दर्द गीतों में पिरोये कैसे?' कवयित्री ने स्त्री पीड़ा की गहराई को सामने रखकर स्पष्ट किया है कि इस पीड़ा को पुरुष सम्पूर्ण रूप से व्यक्त करने में असमर्थ है- 'कथित दलित साहित्यकारों तुम्हारी ओछी नजर में स्त्री का सुंदर होना उसका 'मैरिट' सुंदर न होना 'डीमैरिट' सवर्णों की नजर में वे ही हैं मैरिट वाले तुम हो डीमैरिट मैरिट का पहाड़ा उनका जैसाध वैसा ही तुम्हारा, फिर तुम्हारा विचार नया क्या? कौन सा सामाजिक न्याय कौन सा वाद तुम्हारा? जरा सोचकर बताओ।' स्त्री को लेकर पुरुष का नजरिया क्या होता है? इसकी पहचान भी दलित कवयित्री को बखूबी है- 'हर स्त्री मर्द के लिए एक योनि... एक जोड़ी स्तन.... लरजतें होठ है सब हमारे व्यक्तिगत है हमारा शरीर हमारा है हमारी भावनाएँ, हमारी आजाद इच्छाएँ.... हम कहाँ हैं इस दुनिया में भारत के नक्शे पर भिनभिनाती मक्खियों सी?' इस तरह की कविताएँ स्पष्ट तौर पर पितृसत्ता के वर्चस्व को चुनौती देती हैं। डॉ. निरंजन कुमार के अनुसार 'दलित कवयित्रियों के काव्य में वर्णाश्रम और पुरुष वर्चस्ववादी व्यवस्था

के चुंगल में जकड़ी स्त्री की दमनीय स्थिति की पीड़ा का गहरा एहसास मिलता है, साथ ही उस व्यवस्था से संघर्ष का साहस भी। इनकी कविताओं में सदियों के संताप में जकड़ी स्त्री युग की वर्जनाओं के बावजूद उन सभी प्रचलित प्रतिमानों को तोड़ना चाहती है जो एक स्त्री के लिए मान्य और शिरोधार्य माने जाते हैं। इन कविताओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये दलित स्त्री को शिक्षित और मजबूत कर उनकी प्रचारित और प्रचलित छवि को तोड़ती है।'

अशिक्षा के अभाव में दलित स्त्री के शोषण में इजाफा ही होता है। यह समाज के लिए अभिशाप है किन्तु आज दलित-स्त्री में शिक्षित होकर बदलाव लाने की आकांक्षा भी उत्पन्न हुई है। दलित कवयित्रियों की कविताओं में 'नकार' और 'विद्रोह' पुरुष कवियों से किसी भी स्तर पर कम नहीं। बल्कि कहें कि यह नकार एवं विद्रोह सधे हुए भाषिक रूप में मिलता है, सकारात्मक रूप में। यहाँ सुशीला टाँकभौरे की 'विद्रोहिणी' कविता दृष्टव्य है-

'माँ बाप ने पैदा किया था
गूंगा!
परिवेश ने लंगड़ा बना दिया
चलती रही
निश्चित परिपाटी पर
बैसाखियों के सहारे
कितने पड़ाव आये।
आज जीवन के चढ़ाव पर
बैसाखियाँ चरमराती हैं
अधिक बोझ से
अकुलाकर
विस्फारित मन हुंकारता है
बैसाखियों को तोड़ दूँ।'

कवयित्री सुशीला टाँकभौरे की अन्य कविताओं में भी आक्रोश के दर्शन होते हैं। उन्होंने पुरुष वर्चस्व और बर्बरता को ललकारा है- 'तुम्हें शर्म क्यों नहीं आई? गल चुकी मोमबत्तियाँ आज वह जंगल की आग है बुझाए न बुझेगी आग का दरिया बन जाएगी उसके तेवर पहचानो संभालो पुराने जेवर थान के थान परिधान नंगेपन पर उतरकर पुरुष के सर्वस्व को नकार कर नीचा दिखाएगी।' अब दलित नारी केवल 'अबला नारी' नहीं। वह श्रमशील एवं साहसी है तो स्वाभिमानी भी। शिक्षा आदि के चलते यह नारी अपने मानवीय अधिकारों को न केवल समझती है अपितु उन्हें प्राप्त करना भी चाहती है। वह किसी भी स्तर पर किसी भी प्रकार का शोषण सहने को तैयार नहीं। रजनी तिलक स्त्री के ऊपर लगे सभी तरह के बंधनों (बैरियर्स) को तोड़ने का संकल्प व्यक्त करती हैं-

'मैं दलित अबला नहीं
नए युग की सूत्रपात हूँ
सृष्टि की जननी हूँ
मेरा अतीत, बंधनों का
गुलामी के इतिहास का
युगों-युगों के दमन का वहाँ है
अब, मैं छोड़ दूँगी गुलामगिरी
तोड़ दूँगी बेड़ियाँ।'

क्या यह सदियों से दलित-दमित या शोषित स्त्री की नई परिभाषा या छवि नहीं है? नीलम कुमारी ने अपनी कविता 'उड़ान' में स्त्री मन और उसकी अभिलाषाओं को अभिव्यक्त किया है। वे शोषण एवं गुलामी के निमित्त बने सभी भावुक सम्बन्धों और रिश्तों की बेड़ियों को तोड़ती दिखती हैं- 'सोचती हूँ खोज लूँ इन किताबों में अपने होने का अस्तित्व बाकी तो जीवन में वास्तविक कुछ नहीं केवल भावुक सम्बन्धों का घेरा है जो रहता है, साथ हमेशा माँ, पिता, भाई, पति और बच्चों के साथ सोचती हूँ छोड़ दूँ भावुकता से बनी कड़ियों को केवल और केवल और मग्न रहूँ इन किताबों में अपने अस्तित्व को लिए बस, मैं चाहती हूँ इन सम्बन्धों की कूटनीति से बाहर निकलना उस चिड़िया के समान जो अपनी उड़ान खुद उड़ना चाहती है नीले, स्वच्छ आकाश को जो छूना चाहती है।' आज दलित समुदाय की स्त्री अपने सभी अधिकारों की व्यापक पहचान रखती है और अपनी अलग पहचान बनाने को आतुर है। कावेरी की 'खाइयाँ' कविता में इस प्रवृति के दर्शन होते हैं- 'जिंदगी की खाईयाँ ढेर सारी आतीं रही सामने परिवार, जाति, समाज और धर्म की खाईयाँ राष्ट्र, अंतर्राष्ट्र बांटती अस्मिता को सामने आई खाईयाँ पर, विश्वास को साथ लिये दौड़ रही मैं प्यार के भरोसे से पाट दूँगी खाईयाँ जो फासले बढ़े अपने हौसलों के पंख से तय करूंगी दूरियाँ।' कवयित्री के अनुसार दलित समाज से जुड़ी स्त्री त्याग और ममता से युक्त होती है। वह खुद संकटों को झेल कर अपने परिवार का पोषण करती है- 'हर घर पवित्रता लिये है जहाँ नारी ऐसी होती है खुद गरल को पीती रहती परिजन को सुधा देती है।' विचारधारा की दृष्टि से देखें तो दलित कवयित्रियाँ अपने जीवन में कई स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण करती हैं। रजनी तिलक के यहाँ इसे देखा जा सकता है- 'हम जंग नहीं चाहते जीना चाहते हैं हम विनाश नहीं सृजन चाहते हैं हम युद्ध नहीं बुद्ध चाहते हैं।' इस संदर्भ में उन्हीं की एक और कविता दृष्टव्य है- 'सावित्री बाई फुले तुम्हारा जीवन एक कसौटी तुम्ही पहली शिक्षिका बनी स्त्री-मुक्ति की लौ अभाव और कष्टों में रहकर संचेतना का बीज अंकुरित किया।'

आज की शिक्षित, सजग और चेतना युक्त दलित स्त्री मैला ढ़ोने और शोषण सहने वाली स्त्री से नितांत भिन्न है। हिंदी दलित काव्य में स्त्री के वंचित, मजदूर, श्रमिक रूप को चित्रित किया गया है तो अधिकारों और अस्मिता के प्रति संघर्षशील रूप को भी। दलित समाज के अंतर्गत अनेक अंतर्विरोध भी देखने को मिलते हैं, कवयित्रियों की नजर से ये अंतर्विरोध भी नहीं बच पाते। रजनी

तिलक ने 'वो हमें बाँट देना चाहते हैं' कविता में ऐसे अंतर्विरोधों के मूल पर प्रहार किया है- 'वो हमें बाँट देना चाहते हैं उपजातियों के मिथ्या झंझट में वाल्मीकि, रैगर, चमार, खटीक धानुक, कंजर, आदिवासियों में उनकी बात में आना मकसद है उनका हमें लड़ाना।' जब चारों तरफ जातिवाद, उंच-नीच, शोषण और भय का वातावरण हो तो ऐसे में कैसे समाज का उत्थान किया जा सकता है। कवयित्री जातिविहीन समाज का स्वप्न बुनती है- 'असमानता ही है जिनका आधार ब्राह्मणवाद का वटवृक्ष ना फले-फूले चारों ओर लड़ना है हमें असमानता से गढ़नी है भाषा, बढ़ाना है विज्ञान तभी बनेगा जातिविहीन समाज।' मानवाधिकारों की चर्चा बहुत की जाती है किन्तु जब उसे व्यावहारिक स्तर पर लागू करने की बात आती है तो समर्थ लोगों द्वारा अचानक से पाला बदल लिया जाता है। दलित कवयित्री इसी प्रवृति या वास्तविकता पर सवाल खड़ा करती है- 'जानना चाहती हूँ बच्चे और स्त्रियों के सवाल क्या मानव-अधिकार के सवाल नहीं? बच्चों की मुस्कान औरत का स्वाभिमान क्या उनका मानव-अधिकार नहीं?' (तुम्हारा मानव अधिकार, रजनी तिलक) स्त्री जीवन को लेकर समाज में जितने भेदभाव व्याप्त हैं वह भी काव्य का विषय बना है। मुख्यधारा के स्त्री जीवन और दलित स्त्री के जीवन में बहुत सारे वैषम्य हैं। इस सामाजिक यथार्थ से मुँह मोड़ना आसान नहीं- 'एक भंगी तो दूसरी बामणी एक डोम तो दूसरी ठकुरानी दोनों सुबह से शाम तक खाती हैं बेशक एक, दिन भर खेत में दूसरी, घर की चारदीवारी में शाम को एक सोती है एक बिस्तर पे तो दूसरी काँटों पर प्रसव पीड़ा झेलती फिर भी एक सी जन्मती है एक नाले के किनारे दूसरी अस्पताल में एक पायलट है तो दूसरी शिक्षा से वंचित है एक सत्तासीन है तो दूसरी निर्वस्त्र घुमायी जाती है औरत औरत में अंतर है।' (औरत औरत में अंतर है, रजनी तिलक)

अब तक के इतिहास से समाज का आधा हिस्सा स्त्री लगभग गायब ही रहा है। सुमन राजे के अनुसार 'अब औरत किसी आदमी के नाम से जुड़ी जमीन नहीं, उसकी जिंदगी सिर्फ उसकी है- यही उसके जीवन का मूलमंत्र है हथियार के बल पर और कब तक होगी सभ्यता की खरीद-बिक्री। असमानता की जड़ता उधेड़कर नारी खोज रही है समता का सूत, अब वह समझ गयी है कि उसका जीवन सिर्फ उसी का है, उसी के लिए है।' लगभग इसी तरह के विचार दलित काव्य में भी व्यक्त हुए हैं- 'कब मिलेगा पशुतुल्य मानव को अधिकार कब बदलेंगे कर्मकाण्ड कब मिलेगा सामाजिक न्याय पूछो उससे अन्यथा कर दो उसके टुकड़े-टुकड़े।' (यह तुम भी जानो, सुशीला टाँकभौरे) यह चेतना पेशे आदि को लेकर भी जागृत हुई है। दलित समाज की स्त्री सिर पर मैला उठाने जैसे घृणित कार्य करने को मजबूर की जाती रही लेकिन अब वह इसका विरोध करती है। कौशल पँवार की 'भंगी महिला' कविता इसका उम्दा उदाहरण है-

'वह आज फेंक देना चाहती है
मलमूत्र से भरा बोझ
सभ्य समाज के ऊपर
छीन लेना चाहती है
अपने हिस्से का खुला आसमान

अपनी चाहतें, और अपने सपने
वह ऐलान कर देती है
अरे! व्यवस्था के ठेकेदारों
अब संभल जाओ
देखो-देखो! आ रही हैं
भंगी महिलाएँ
हाथ में झाड़ू की जगह
कलम उठाये, झंडे उठाये, और हथियार उठाए
आ रही हैं
भंगी महिलाएँ।'

अब तक दलित स्त्री की श्रमशीलता, मेहनत को केवल जाति का 'टैग' लगाकर खारिज कर दिया जाता रहा है। इस श्रमशीलता का इनाम अनाप-शनाप नामों के रूप में दिया जाता है। ये नाम सीधे स्त्री अस्मिता पर हमला करते हैं, गाली से भी बदतर प्रतीत होते हैं। कवयित्री ने इस क्रूर यथार्थ को सम्मुख रखा है- 'हमारी बस्ती में काली सी बुढिया हर रोज बिना रुके आँधी हो या तूफान रविवार हो या तीज त्यौहार सुबह होते ही हाथ में बाल्टी झाड़ू थामे आती है....वो सहनशीलता धौर्य की मूर्ति सत्तर बरस की मैया धौर्य इनका टूटता नहीं मेहनत को आत्मसात किया उम्र कोई बाधा नहीं धिक्कार की बात है लोग इन्हें भोंगिन कहकर पुकारते हैं।' यह प्रवृति इसलिए अधिक चुभती है क्योंकि दलित समाज की स्त्री समाज एवं राजनीति के सर्वोच्च पदों पर भी आसीन हो चुकी है, अपने को लगभग सभी स्तरों पर सिद्ध कर चुकी है। बावजूद इसके दलित स्त्री के प्रति वर्चस्ववादी मानसिकता नहीं बदलती। कवयित्री ने प्रतीक रूप में मायावती को चुना लेकिन साथ ही समाज की मानसिकता नहीं बदलने का मलाल भी उसे है- 'प्रिय दलित की बेटी उत्तर प्रदेश की मुख्यमंत्री भावी प्रधानमंत्री पद की दावेदार बहन जी सुश्री मायावती तुम सोते से जागी। अच्छा लगा सत्ता के गलियारे में अपमानित हुई बुरा लगा....जाति-पाति से ऊपर उठ गयी तुम्हारा कद बढ़ गया और तुम्हारा वर्ग भी बदल गयाधपरंतु तुम्हारी सामाजिक हकीकतें वहीं की वहीं रहीं। दलित की बेटी तुम सत्ता की हवा का रुख मोड सकती थी इतिहास बदल सकती थी।'

'बलात्कार' स्त्री जीवन के लिए सबसे बड़ा अभिशाप है। ऐसे कुकृत्य के बाद किसी भी स्त्री का समूचा जीवन और उसकी भावनाएँ तबाह हो जाती हैं। समाज भी स्त्री के पक्ष में खड़ा न होकर अधिकांशतरू मौन रहता है जो कि अपराधी के पक्ष में जाना ही कहा जाए तो अनुचित नहीं होगा। यहाँ भी सवाल उठता है कि मुख्यधारा की स्त्री के शोषण को ही मीडिया कवरेज करता है शहरों की झुग्गी-झोंपडियों और सुदूर ग्रामीण इलाकों, कार्यस्थल पर यौन-उत्पीड़न को क्यों नहीं? रजनी तिलक ने इस सवाल को व्यापकता से उठाया है- 'दामिनी के बलात्कार पर थर्रा गयी पूरी दिल्ली काँप उठा पूरा भारत शर्मसार हुई पूरी मानवता अन्याय का प्रतिरोध करने निकल पड़ा युवकों का हुजूम भयभीत लड़कियाँ निर्भय हो उतर आई सड़कों पर.... खैरलांजी भंवरी और

दामिनी हर दलित की बेटी के बलात्कारी को बहुत मंहगी पड़ेगी अब ये मस्ती....अब वह दिन दूर नहीं, तब तुम सड़कों पे मारे जाओगे.... जनता ही तुम्हें सजा देगी... मीडिया सिविल सोसाइटी क्या खड़े रहो हमारे साथ भी? मथुरा, भवरी दामिनी के बलात्कारियों को सजा दिलवाओगे न?' स्पष्टतरू कानून, समाज, मीडिया सभी पक्षपाती नजरिया अपनाते नजर आते हैं। हिंदी दलित कवयित्रियाँ केवल दलित स्त्री की चिंता तक ही सीमित नहीं है उसकी चिंता का दायरा अत्यंत व्यापक है। एक तो यहाँ स्त्री का विभाजन निंदा का विषय है- 'औरत औरत होती है उसका न कोई धार्म न कोई जात होती है।' इसके साथ ही राष्ट्रीय स्तर पर घटने वाले घटनाओं, दंगों, सांप्रदायिक हिंसा को भी व्यापक स्तर पर काव्य का विषय बनाया गया है- 'सिक्ख समाज के साथ जो हुआ वह देखकर मन तड़प उठा आँखों में अभी तक अजीब बेचौनी है रुक-रुक मुठ्ठी भींचती है वह नृशंस दृश्य सताते है हर छड़ आँखों में उभरते हैं!.....देश संस्कृति, राष्ट्रीय एकता का नारा अपने ही घर में हम हुए बेगाने गुंडों के सामने बेबस।' (1984 की लपटें, रजनी तिलक)

मूल्यांकन के तौर पर यही कहा जा सकता है कि हिंदी दलित काव्य के अंतर्गत दलित स्त्री से जुड़े तमाम प्रश्नों को उठाया गया है। एक लेख में दलित स्त्री से सम्बद्ध इतने व्यापक विषयों और सभी कवयित्रियों के योगदान को समेट पाना संभव नहीं, खैर! समय गुजरने के साथ जैसे जैसे अस्मिता की लड़ाई तेज होगी इन प्रश्नों का यथासंभव हल निकलेगा। अभी यह केवल शुरुआत है। हरपाल सिंह 'अरुष' के अनुसार 'नारी के दलित लेखन में कविता के हिस्से में उतना स्पेस नहीं आ पाया है, जितना वह झेल रही है। इतने पर भी यहाँ अस्मिता-निर्माण की प्रक्रिया जारी है।' हरपाल सिंह 'अरुष' हिंदी दलित काव्य के स्त्री स्वर और सरोकारों पर उल्लेख करते हैं कि 'दलित काव्य में कवयित्रियों द्वारा लिखी गई कविताएँ नारीवाद से भी मुक्त हैं। वे जहाँ दलित समाज से आने वाली कवयित्रियाँ हैं, वहीं सामान्य सामाजिक समूहों में से निकलकर आने वाली कवयित्रियाँ भी हैं, परंतु प्रचलित नारीवाद से भिन्न नारी के शोषण और दलितत्व को लेकर साहित्य में वे संलग्न हैं। उनके यहाँ अपने दलित होने का एहसास है, उनके संदर्भ गंभीर हैं, उनकी भाषा मुखर है। वे भी समता की पक्षधार हैं। दलित-पिछड़े समाजों में नारी परिश्रमशील है। श्रम में भागीदार है। अतः इन समाजों से आने वाली महिलाओं के अनुभव भिन्न प्रकार के हैं।' दलित स्त्री के संदर्भ में व्याप्त विषमता को दूर करने हेतु दलित, किसान, मजदूर, आदिवासी, अल्पसंख्यक आदि समुदायों को चेतना युक्त करना होगा। क्योंकि इस सभी वर्गों से जुड़ी स्त्री किसी न किसी रूप में दलित-दमित ही है।

दलित कविताओं के अंतर्गत दलित स्त्री के जीवन और उससे जुड़ी समस्याओं को सामने रखकर विमर्श को खड़ा करने का प्रयास किया गया है ताकि दलित स्त्री के प्रति मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक नजरिये में बदलाव हो। दलित स्त्रीवाद और उसकी प्रक्रिया को दलित कवयित्रियाँ भली-भाँति समझ रही हैं। न केवल समझ रही हैं अपितु उसे सार्थक रूप में आगे बढ़ाने में तत्परता से संलग्न हैं। अंत में रजनी अनुरागी के शब्दों में 'आज दलित स्त्री की कविता जहाँ एक ओर संघर्ष कर आगे बढ़ रही है वहीं अपने समय को मुहावरों से अलग अपनी भाषा में अपना मुहावरा गढ़

रही है। उसकी दृष्टि का फलक व्यापक है।..... विविध अनुभवों को अपने में समेटे ये कविताएँ विषय और प्रस्तुति के आधार पर साहित्य जगत में नया अध्याय खोलती है। स्त्री जगत की तमाम समस्यों, जटिलताओं का साक्षात्कार करवाती ये कविताएँ सामाजिक, राजनैतिक प्रपंचों पर कुठाराघात करती हैं और सांस्कृतिक क्रान्ति का आह्वान कर समाज में सभी स्तरों पर समानता की वकालत करती हैं।'

संदर्भ :

1. कंवल भारती, दलित कविता का संघर्ष, स्वराज प्रकाशन, दरियाजंग, दिल्ली, सं. 2012, पृ.244 / 2. ओमप्रकाश वाल्मीकि, मुख्यधारा और दलित साहित्य, सामयिक प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2009, पृ.116 / 3. मोहनदास नैमिशराय, हिन्दी दलित साहित्य, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, सं.2011, पृ.313 / 4. ओमप्रकाश वाल्मीकि, सदियों का संताप, गौतम बुक सेंटर, शाहदरा, नई दिल्ली, सं.2012, पृ.33 / 5. डॉ. एन. सिंह (संपादक), दर्द के दस्तावेज, आनंद साहित्य सदन, अलीगढ़, प्रथम संस्करण, 1992, पृ.143 / 6. युवराज सोनटक्के, अग्निधवजा, शाश्वत प्रकाशन, बेंगलूर, 2011, पृ.72 / 7. डॉ. निरंजन कुमार, दलित साहित्य का समाजशास्त्र, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली, 2010, पृ.102 / 8. बया (पत्रिका), संपादक- गौरीनाथ, जनवरी-मार्च, 2014, पृ.94 / 9. पीड़ा जो चीख उठी, भारतीय दलित साहित्य मंच, गोंडा, दिल्ली, 1988, पृ.43 / 10. विमल थोरात एवं सूरज बडत्या, भारतीय दलित साहित्य का विद्रोही स्वर, रावत पब्लिकेशंस, जयपुर, 2008, पृ.19 / 11. रजनी तिलक, पदचाप, सेंटर फॉर अल्टरनेटिव दलित मीडिया, शालीमार बाग, दिल्ली, 2000, पृ.अ / 12. निरंजन कुमार, दलित साहित्य का समाजशास्त्र, पृ.106 / 13. डॉ. सुशीला टाँकभौरे, स्वाति बूंद और खारे मोती, शरद प्रकाशन, नागपुर, 1993, पृ.9 / 14. दलित साहित्य वार्षिकी (पत्रिका), संपादक- जयप्रकाश कर्दम, दिल्ली, 2005 / 15. विमल थोरात एवं सूरज बडत्या, भारतीय दलित साहित्य का विद्रोही स्वर, पृ.20 / 16. रजनी तिलक, पदचाप, पृ. 15 / 17. सुमन राजे, हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ.309 / 18. दलित अस्मिता (पत्रिका), संपादक- विमल थोरात, प्रवेशांक, अक्टूबर-दिसम्बर, 2010, पृ. 100 / 19. हरपाल सिंह 'अरुष', दलित साहित्य के आधार तत्व, भारतीय पुस्तक परिचय, नई दिल्ली, सं. 2011, पृ. 109 / 20. वही, पृ.107-108 / 21. मगहर (पत्रिका), संपादक- मुकेश मानस, अप्रैल-जून, 2012, पृ.38

साहित्यिक पत्र–पत्रिकाओं में सक्रिय लेखन पत्रकारिता एवं सांस्कृतिक विषयों में विशेष अभिरूचि। सम्प्रति मोतीलाल नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय में सहायक प्रोफेसर हैं।

पढ़ना और समझना

डॉ. अरूणाकर पाण्डेय

पढ़ने और समझने की प्रक्रिया में एक निर्णायक उपलब्धि है- भाषा या भाषाओं का अर्जन। भाषा के विकसित होने से पढ़ने और समझने की प्रक्रिया में युगीन परिवर्तन हुए क्योंकि लिपिबद्धता या स्मृतिकोष के कारण इसका उपयोग सशक्त होता चला गया। यदि भाषा विकसित न होती तो अनुभव के पुंज को सुरक्षित नहीं किया जा सकता था और स्वाभाविक रूप से हमारी दुनिया आज जैसी तो संभव नहीं हो सकती थी। यहाँ भाषा को हिन्दी या अंग्रेजी के रूप में न देखते हुए बहुत व्यापक अर्थ में लेना होगा।

पढ़ना एक सोद्देश्य और सतत प्रक्रिया है तथा समझना उसके साथ-साथ चलने वाला एक सहकर्म या प्रतिकर्म। पढ़ने की प्रक्रिया बिना किसी उद्देश्य के अपना कोई निश्चित अर्थ नहीं रखती और लगातार उसका अभ्यास हो, तो वह एक समझ का निर्माण करती है। लेकिन यदि यह विचार किया जाय कि पढ़ने और समझने में कौन सी प्रक्रिया पुरानी है तो इसका निश्चित उत्तर देना कठिन है। इसका कारण यह है कि 'पढ़ने' और 'समझने' की अवधारणा पर सोचा जाए तो इन दोनों शब्दों के व्यापक अर्थ बनते हैं। इनका भी अपना एक ऐतिहासिक विकास क्रम बनता है। लेकिन इसमें संदेह नहीं कि ये दोनों परस्पर एक दूसरे को पोषित और विकसित करते हैं।

आज जिस तरह हम पढ़ते हैं, वह एक विकसित रूप है क्योंकि आज हम बहुत से उपयोगी पाठ्यक्रमों या अपनी चयन शक्ति के कारण बेहद व्यवस्थित अवसर भी प्राप्त होते हैं जिससे सैद्धांतिक के साथ व्यावहारिक समझ और कुशलता भी निर्मित होती है। लेकिन यह स्थिति मनुष्य के आरंभिक काल से यथावत तो नहीं बनी। यह तो कई वर्षों के निरंतर परिश्रम का परिणाम कहा जा सकता है

कि बहुत से चरणों से गुजर कर हम पढ़ाई की वर्तमान अवस्था तक पहुँच सके हैं। लेकिन इसका बीज ठीक-ठाक कब पड़ा यह कहना मुश्किल है, पर यदि पढ़ने को बहुत ही सामान्य रूप से पढ़ने और समझने को हम साक्षरता से जोड़कर ही देखने के आदि हो गए हैं लेकिन विभिन्न पदार्थों और परिस्थितियों के संसर्ग के कारण पढ़ना और समझना वास्तव में मुनष्य जितना ही पुराना कहा जा सकता है। शिकार करने के लिए किसी पशु के व्यवहार पर लगातार दृष्टि बनाये रखना और सही समय पर भरपूर वार करना आर्रभिक निरीक्षण का उदाहरण माना जा सकता है जिसमें पढ़ने और समझने की एक प्रक्रिया मौजूद है। इसी प्रकार जल या अग्नि से भी मनुष्य का एक संबंध बनना निरंतर पढ़ने और समझने का उत्कृष्ट उदाहरण माना जा सकता है क्योंकि आरंभिक काल से आजतक इसका परिष्करण चलता चला आ रहा है। इसलिए यह कहने में कोई हिचक नहीं है कि पढ़ने और समझने की प्रक्रिया सतत और नैसर्गिक है।

पढ़ने और समझने की प्रक्रिया में एक निर्णायक उपलब्धि है- भाषा या भाषाओं का अर्जन। भाषा के विकसित होने से पढ़ने और समझने की प्रक्रिया में युगीन परिवर्तन हुए क्योंकि लिपिबद्धता या स्मृतिकोष के कारण इसका उपयोग सशक्त होता चला गया। यदि भाषा विकसित न होती तो अनुभव के पुंज को सुरक्षित नहीं किया जा सकता था और स्वाभाविक रूप से हमारी दुनिया आज जैसी तो संभव नहीं हो सकती थी। यहाँ भाषा को हिन्दी या अंग्रेजी के रूप में न देखते हुए बहुत व्यापक अर्थ में लेना होगा। आरम्भ की चित्र-भाषा और ध्वनियों के बढे होने से लेकर आज तक की सॉफ्टवेयर-निर्माण की भाषा तक को इस दायरे में देखना होगा, तब पढ़ने और समझने में भाषा का एक व्यक्तित्व उभरता हुआ दिखेगा। स्वाभाविक रूप से भाषा न केवल ज्ञान का भंडार है, बल्कि व्यापारों के आदान-प्रदान और विषयों के विचार को अग्रसर करने का माधयम भी, लेकिन यहाँ यह याद रखना आवश्यक है कि केवल शब्द मात्र को ही भाषा का संवाहक मानना एक रूढ़ि होगी क्योंकि ध्वनियों, रेखाओं तथा रंग और शरीर जैसे विभिन्न माध्यमों से भी अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार देखें तो ये विभिन्न भी अपनी वर्णमाला बनाते हैं और एक यादृच्छिक व्यवस्था के कारण भाषा का रूप ले लेते हैं। उदाहरण के लिए यदि पीले रंग की बात की जाए तो ऐतिहासिक प्रक्रियाओं में वे वसंत के मौसम का, हिंदू धर्म के भगवान विष्णु के वस्त्रों का, ऑस्ट्रेलिया क्रिकेट टीम की जर्सी का तथा विवाह आदि के प्रतीक के रूप में स्वीकृत है। यह सूची और भी बढाई जा सकती है, लेकिन मूलतः यह इस बात को सिद्ध करती है कि पढ़ने और समझने की प्रक्रिया भाषा के विकास के कारण निर्णायक स्थिति में पहुँचती है और अनेक स्टारों पर अंतर्भाषिक होने के लिए बाध्य करती है। देखा जाय तो यहीं से पढ़ने-समझने, भाषा और मुनष्य के अन्तर्सम्बन्ध जटिल रूप लेने लगते हैं तथा कई संरचनाओं को संभव करने लगते हैं।

ऊपर भाषा की चर्चा की गयी है लेकिन यह ध्यान रखना चाहिए कि भाषा मूलतः माध्यम का काम करती है, भले ही उसके कितने ही रंग-रूप क्यों न हों। वह है-अभिव्यक्ति की क्षमता। भाषा जैसे महत्वपूर्ण माध्यम को जो सबसे संयोजित और कारगर रूप है, उसे अभिव्यक्ति कहा जा

सकता है। पढ़ने और समझने से इसका गहरा संबंध है। यदि कोई व्यक्ति अपने विषय को अवधारणात्मक रूप से समझता है तो अन्य तक उसे पहुँचाने के लिए अभिव्यक्ति की क्षमता की आवश्यकता होती है। यह जरूरी नहीं कि एक ही क्षेत्र या विषय से जुड़े लोग एक ही प्रकार की भाषा से बंधे हों। अपने व्यक्तित्व और अनुभव और विषय से अपने संबंध के अनुसार उनकी अभिव्यक्ति की क्षमतायें भी अलग होती हैं। कोई किसी विचार अथवा भाव को कविता में कहना पसंद करता है, कोई गद्य में तो कोई रंग में। कोई विद्वान की तरह शोध और अनुसंधान की भाषा चुनता पढ़ने और समझने की प्रक्रिया का निर्णय होता है क्योंकि यह शक्ति उसे विषय को समझने और फिर आगे विकसित करने की प्रगाढ़ता से उपजती है।

भाषाओं के अर्जन के साथ ही पढ़ने और समझने की एक अन्य उपलब्धि है विश्लेषण क्षमता। बिना विश्लेषण किये किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता। लेकिन यहाँ यह समझना आवश्यक है कि विश्लेषण की क्षमता अर्जित करने का यह अर्थ होता है कि अलग-अलग विषयों के अनुसार विश्लेषण के क्षमता की दिशायें भी अलग-अलग होती हैं। उदाहरण के लिए एक संपादक के विश्लेषण की क्षमता उसे लेखों के चुनाव, भाषा के परिष्करण, किसी लेख का पत्र-पत्रिका आदि में उचित स्थान और पाठकों की समझ में पारंगत बनाती है तो क्रिकेट जैसे खेल में एक बैट्समैन के विश्लेषण की क्षमता यह होती है कि वह गेंद की गति, उसके टर्न, बैटिंग की टाईमिंग, क्षेत्ररक्षण की स्थिति का बेहतर अनुमान लगाना होता है। इस प्रकार देखें तो ये दोनों व्यक्तित्व अपनी तरह से विश्लेषण की क्षमता अर्जित करते हैं। दोनों एक दूसरे की जगह लेकर एक दूसरे की पूर्ति नहीं कर सकते। यह अंतर दोनों को विशिष्ट बनता है। लेकिन यहाँ दोनों पर जो बात समान रूप से लागू होती है वह यह है कि दोनों को अपने क्षेत्र और व्यवसाय के अनुसार पढ़ना और समझना पड़ता है। इससे यह धारणा भी टूटती है कि पढ़ना और समझना केवल बेसिक (आधार भूत) शिक्षा से जुड़ा हुआ है बल्कि यह धारणा सशक्त होती है कि शिक्षेतर या लेखन से इतर विषयों और क्षेत्रों में भी पढ़ने और समझने की अपनी जरूरतें हैं। यही कारण है कि क्रिकेट जैसे खेल के क्षेत्र में भी बेहतरीन पुस्तकें और आलेखों की जरूरत बनी रहती है जो इसे विकसित करने में दृष्टि देते हुए सहायक का काम करती है।

पढ़ने और समझने की ही प्रक्रिया ऐतिहासिक रूप से ज्ञान के संग्रहण को भी व्यवस्थित करने का काम करती है। ज्ञान एक ऐसा शब्द है जिसका अर्थ बहुत विस्तृत है क्योंकि इसका उपयोग और प्रयोग बड़े ही व्यापक स्तर पर किया जाता है। यदि आर्क्सफोर्ड थिसॉरस के माधयम से ही देखें तो ज्ञान (Knowledge) के लिए जानना (Knowing), जानकारी (Awareness), बोध (Apprehension), संज्ञान (Cognition), समझना (Grasp), अवधारणा (Conception), चेतना (Consciousness) तथा अंतर्दृष्टि (Insight) जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है। कहीं तो यह शब्द बहुत गहरे क्रिया के रूप में स्वीकृत है तो इसका प्रयोग संज्ञा की तरह भी होता है। यदि कहा जाए कि अमुक का गणित का ज्ञान बहुत अच्छा है तो इसका अर्थ यह होता है कि वह उक्त

विषय में पारंगत है। यह ज्ञान की एक दिशा है जो सामान्य अर्थ में एक विषय की जानकारी से जुड़ा हुआ है। लेकिन यदि इस शब्द का प्रयोग इस प्रकार किया जाए कि काशी से बड़े ही ज्ञानी सज्जन पधारे हैं तो इसकी दिशा उक्त व्यक्ति की छवि से जुड़ जाती है। इसी शब्द को यदि इस प्रकार उपयोग में ले कि कबीरदास भक्तिकाल की ज्ञानमार्गी शाखा के प्रतिनिधि कवि हैं तो यह एक परम्परा विशेष की ओर सूचित करेगा। ज्ञान शब्द का उपयोग यदि 'ज्ञान-आयोग' के परिप्रेक्ष्य में देखें तो उस संस्था की बात होगी जिसका गठन भारत सरकार ने शिक्षा और मानव-संसाधन के क्षेत्र में नीतियों का निर्माण करने और उन्हें लागू करने के लिए किया है। किसी अज्ञात को जानने की प्रक्रिया में यदि इसी शब्द को समझ जाए तो यह संज्ञान अथवा बोध के निकट दिखाई देगा। यदि स्वाध्याय के रूप में लें तो यही शब्द आत्म-परिचायक का कार्य करेगा। कहने का अर्थ यह है कि ज्ञान एक ऐसा विस्तृत शब्द है जो संदर्भ के अनुसार अर्थ की निर्मिती करता है। लेकिन यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यदि इस शब्द को सिर्फ सिद्धांत तक सीमित कर दिया जाए तो फिर इसका

अनुभव के साथ पढ़ना कोरा पढ़ना नहीं होता बल्कि उसमें जीवन की आलोचना उभर कर सामने आती है। यदि उस पढ़े हुए में अनुभव शामिल नही हो तो वह सतह से लौट आने जैसा ही होता है। लेकिन यदि जो पढ़ रहे हैं उसके तुलना व्यावहारिक स्तर पर हमारे जीवन से हो सके तो पढ़ने की प्रक्रिया निश्चित ही विकसित होगी। यदि इस संदर्भ में साहित्य से ही उदाहरण लें तो पता चलता है कि वे रचनाएँ अधिक-मूल्यांकित होती हैं जो जीवन की कठिन सचाईयों को अधिक संप्रेषणीयता के साथ रखती हैं।

कोई व्यावहारिक प्रयोजन नहीं रह जाता। यह शब्द जीवंतता और प्रयुक्ता के साथ ही अपनी समकालीनता स्थापित कर सकता है। दूसरे शब्दों में एक सतत प्रक्रिया की तरह इसका अपना अस्तित्व है जो इसे विभिन्न प्रयोजनों के लिए उपयुक्त बनाता है। पढ़ने और समझने के दृष्टि से देखें तो ज्ञान किसी विषय के ऐतिहासिक विकास और अद्यतन शोध-अनुसंधान को जानने-समझने का माध्यम है तो साथ ही साथ व्यावहारिक बोध और संज्ञान के लिए आवश्यक प्रक्रिया भी है। यदि किसी विषय को विकसित करना है तो इसके लिए आवश्यक हो जाता है कि उस विषय के बारे में नवीनतम जानकारी सैद्धांतिक और व्यावहारिक स्तर पर एकत्रित की जाए, विचार-विश्लेषण किया जाए और आगे की संभावनाओं पर सर्वाधिक मानक प्रविधि या तरीकों से काम किया जाए। अगर उक्त विषय की यात्रा के बारे में नहीं जानता तो निश्चित है कि उसे विकसित करने के बजाये उसके साथ अन्याय कर जाए और जाने-अनजाने उसकी प्राक-अवस्था को ही उसकी समकालीन अवस्था मान बैठे। इससे उक्त विषय का अंत होना तय है जो पढ़ने और समझने के लिए वास्तविक

अर्थ में एक प्रतिरोधी स्थिति है।

जब पढ़ना और समझना किसी खास उद्देश्य अथवा दृष्टिकोण के लिए हो तब उसके लिए प्रशिक्षण और अनुभव का होना बहुत आवश्यक हो जाता है। एक निष्णात पाठक होने के लिए यह जरूरी है कि अध्ययन को अनुभवपरक, अंतः अनुशासनात्मक, अंतर्माध्यमिक, अंतर्भाषिक बनाया जाए। पढ़ने के लिए स्कूली शिक्षा ही पर्याप्त नहीं कही जा सकती क्योंकि वहाँ अधिकतर पढ़ना और समझना अक्षर ज्ञान या सामान्य जानकारी तक ही सीमित रहता है। लेकिन पाठक तो तब जन्म लेता है जब वह कई वर्षों के लम्बे अध्ययन के साथ अपनी समझ विकसित करते हुए पाठ के किसी भी रूप को अपने लिए तैयार कर सकता है। हालाँकि आरंभिक अध्ययन यह मांग करता है कि जिस लक्ष्य के अनुसार पढ़ाई हो रही है पाठक पहले उस अवस्था तक एक पाठ्यक्रम के माध्यम से सफल रूप से पहुँचे। लेकिन उस अवस्था को पार करने के बाद अध्ययन का एक अपना अनुभव विकसित होता है और उससे पढ़ने की प्रक्रिया स्मृति के रूप में अंकित होकर प्रशिक्षण की प्रस्तावना प्रस्तुत करती है।

अनुभव के साथ पढ़ना कोरा पढ़ना नहीं होता बल्कि उसमें जीवन की आलोचना उभर कर सामने आती है। यदि उस पढ़े हुए में अनुभव शामिल नही हो तो वह सतह से लौट आने जैसा ही होता है। लेकिन यदि जो पढ़ रहे हैं उसके तुलना व्यावहारिक स्तर पर हमारे जीवन से हो सके तो पढ़ने की प्रक्रिया निश्चित ही विकसित होगी। यदि इस संदर्भ में साहित्य से ही उदाहरण लें तो पता चलता है कि वे रचनाएँ अधिक-मूल्यांकित होती हैं जो जीवन की कठिन सचाईयों को अधिक संप्रेषणीयता के साथ रखती हैं। वर्तमान समय में तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि साहित्य को सिनेमा और अन्य लोकप्रिय सांस्कृतिक उत्पादों से अच्छी-खासी प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है और यह एक स्थापित सत्य है कि लोकप्रियता के मामले में साहित्य इन माध्यमों से बहुत पीछे छूट जाता है। लेकिन ऐसी कठिन परिस्थितियों में भी वही साहित्य अपनी जगह अपने दम पर बनाता है जो यथार्थ के पहलूओं को सामने ले आये और जिनका संबंध जनता की अभिव्यक्ति से हो। ऐसा ही एक उपन्यास श्रीलाल शुक्ल का 'राग-दरबारी' है जिसने अपनी रचनात्मकता की वजह से अपनी सशक्त पहचान बनाई है। यहाँ सशक्त पहचान का अर्थ तुलनात्मक दृष्टि से है जिसमें इसके समकालीन रचनाओं से इसकी बेहतर स्थिति की ओर संकेत किया जा रहा है। लेकिन है यह यथार्थपरक क्योंकि पहले तो इसमें सतही स्तर पर मजाक दिखता है लेकिन गौर किया जाए तो इसका उद्देश्य जीवन की असलियत को सामने लाना होता है। ध्यान देने लायक है कि जो पाठक उपन्यास के भीतर अभिव्यक्त की गयी परिस्थिति का सामना कर चुके हैं वे इसके साथ बेहतर संबंध बना सकते है। इसके विपरित वे पाठक जिन्होंने कभी ऐसी स्थिति का सामना न किया हो वे तुलनात्मक रूप से इसकी गंभीरता में न जाके इसे हास्य-प्रधान रचना समझेंगे और बहुत दूर तक उनका संबंध इस रचना के साथ नहीं बन पायेगा। उदाहरण के लिए भारतीय रेल की छवि को प्रकट करता 'राग दरबारी' का यह अंश देखें-

''आज रेलवे ने उसे धोखा दिया था। स्थानीय पैसेंजर ट्रेन को रोज की तरह दो घंटा लेट समझकर वह घर से निकला था, पर वह सिर्फ डेढ़ घंटा लेट होकर चल दी थी। शिकायती किताब के कथा-साहित्य में अपना योगदान देकर और रेलवे अधिकारियों की निगाह में हास्यास्पद बनकर वह स्टेशन से बाहर निकल आया था। रास्ते में चलते हुए उसने ट्रक देखा और उसकी बांछे-वे जिस्म में जहाँ कहीं भी हों-खिल गयीं।''

'राग दरबारी' के इस उद्धरण में यथास्थितिवाद पर गहरा प्रहार किया गया है जिसमें लक्ष्य है रेलवे व्यवस्था की पोल खोलना लेकिन साथ ही साथ यहाँ दो अन्य बातें भी गौर करने लायक हैं। एक तो यह कि जब आप सामान्य नागरिक की हैसियत से शिकायत करने चलते हैं तो आप सरकारी कर्मचारियों की निगाह में ही मजाक बन कर रह जाते हैं। दूसरा यह कि हिन्दी जैसी भाषा ने अपना एक महत्वपूर्ण शब्द 'बांछे' का अर्थ खो दिया है क्योंकि शायद यह स्वंय लेखक या आख्याता को भी नहीं पता कि वो शरीर में कहाँ होती हैं। लेकिन असल प्रश्न यह है कि किस तरह के पाठक का घ्यान इन बातों की ओर जा सकता है?जो सिर्फ पढ़ने का प्रेमी हो शायद वह इस स्थिति को नहीं पहचान सकता क्योंकि वह तो कटाक्ष के आनंद के लिए पढ़ रहा है। तो फिर कैसा पाठक इस लेखन को समक्ष सकता है। इसका उत्तर यह है कि वो पाठक जो इस स्थिति का स्वंय भोक्ता हो या फिर उसने अपने जीवन में अन्य लोगों के साथ ऐसा होते हुए देखा हो, इस समस्या को मात्र व्यंग्य की तरह नहीं लेगा बल्कि संवेदनशीलता के साथ पढ़ेगा। जिसके सामने भाषा के अभिव्यक्ति की समस्या हो वही 'बांछे' के अर्थ के विलुप्त हो जाने को रेखांकित करेगा, वह नहीं जिसके लिए यह कोई अन्य किताब जैसी ही वस्तु हो।

इसके साथ ही यह समझना भी आवश्यक है कि पढ़ने और समझने की प्रक्रिया में प्रशिक्षण की स्थिति भी बनती है। इसका अनुमान इस बात से लगता है कि एक खास तरह के पाठक-वर्ग में भी कई प्रकार के पाठक और उसी आधार पर कई तरह के अध्ययन के उद्देश्य होते हैं। जैसे एक अध्येताओं का एक वर्ग होता है-छात्र वर्ग। यदि इस वर्ग को घ्यान से देखा जाए तो इस वर्ग के पढ़ने के पीछे एक निश्चित उद्देश्य होता है जैसे कि उसे परीक्षा में उर्तीण होना है। उसे जो पाठ्यक्रम दिया गया है। उसे उसमें पारंगत होना है और अपनी डिग्री प्राप्त करनी होती है। यदि इस वर्ग की तुलना एक अन्य पाठक-वर्ग से की जाए जैसे कि अखबार के पाठक से तो बात पूरी तरह स्पष्ट हो जायेगी। अखबार के पाठक के पास अपने व्यक्तित्व और जरूरत के अनुसार पढ़ने की सामग्री के चयन की स्वतंत्रता है और उसका कोई खास उद्देश्य जैसे कि परीक्षा देना या शोध लिखना नहीं है। ऐसे में वह सिर्फ अपनी सूचना और मनोरंजन की खातिर अखबार पढ़ेगा और वह इस पढ़ने की प्रक्रिया में समय से भी बंधा हुआ नहीं है। ऐसे में उसका पढ़ना कोई गंभीर नहीं माना जा सकता और यदि वह अपनी इन जरूरतों के लिए किसी अन्य माध्यम पर भी निर्भर होता है तो शायद उसे बहुत विस्तार से अखबार पढ़ने की जरूरत भी नहीं होगी। वह सिर्फ उस पर नजर डालकर उसे छोड़ सकता है या फिर शायद वह भी नहीं। इसके अलावा यह भी हो सकता है कि वह किसी

खास जरूरत की खबर जैसे कि खेल, व्यापार, राजनीति या सिनेमा तक ही स्वंय को सीमित रखता हो और सम्पादकीय, विज्ञापन व अन्य स्तम्भों की जरूरत उसे न हो। ऐसे में यदि उसके अध्ययन को समझने का प्रयास किया जाए तो यही समझ बनेगी कि उसके लिए सामान्य साक्षरता का स्तर काफी है और वह इससे आगे बढ़ेगा भी नहीं। उसे पढ़ने और समझने के लिए किसी खास प्रशिक्षण या दृष्टि की कोई आवश्यकता महसूस नहीं होगी।

लेकिन इसकी तुलना में यदि छात्र वर्ग को देखें तो स्पष्ट पता चल जाता है कि वह न केवल पाठ्यक्रम से बंधा हुआ है बल्कि समय के अनुसार उसे अपनी पढ़ाई पूरी करनी है। यहाँ वह स्वतंत्र नहीं है कि अपनी मर्जी से अपना पाठ चुन ले बल्कि यहाँ पर उसे अनुशासन का पालन पढ़ने में हर हाल में करना है। सर्वविदित है कि सभी छात्र समान प्रतिभा या परिश्रम-स्तर के नहीं होते और इसीलिए पढ़ने का उनका मकसद एक जैसा नहीं होता। बहुत से छात्र ऐसे होते हैं जिन्हें सिर्फ डिग्री लेने में ही रूचि होती है और इस कारण उनका घ्येय यह होत है कि कम से कम पढ़ा जाए और अपना लक्ष्य पूरा किया जाए। उनके लिए परीक्षा के लिए छपने वाली गाइड पर्याप्त होती है। वहीं दूसरे प्रकार के छात्र वे होते हैं जिनका उद्देश्य केवल परीक्षा पास करना ही नहीं होता बल्कि वे उसमें प्रथम श्रेणी भी लाकर अपने रोजगार के लिए बेहतर स्थिति चाहते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि वे उन छात्रों से अलग उद्देश्य रखने के कारण अपने निर्धारित पाठ और परीक्षा में पूछे जानेवाली प्रश्नावली पर अपना घ्यान केन्द्रित करते हैं। वे परिश्रम तो करते हैं लेकिन बहुत चयनित आधार पर। इसके लिए वे कक्षाओं में भी पूरा घ्यान देते हैं और अपने उक्त लक्ष्य के अनुसार तैयार करते हैं। कहा जा सकता है कि इनके लिए पाठ्य-पुस्तकें और परीक्षा से जुड़ी विशेष सामग्री बहुत महत्वपूर्ण होते हैं। लेकिन इन दोनों प्रकार के छात्रों से अलग एक अन्य प्रकार के छात्र वे होते हैं जो अपने विषय में पारंगत होते हुए उसके नवीनतम जानकारी प्राप्त करते हैं, विषय के लिए अपनी अतिरिक्त विश्लेषण-क्षमता विकसित करते हैं, पाठ्यपुस्तकों के अलावा नई से नई संदर्भ की पुस्तकों पर नजर रखते लगातार चर्चा भी करते हैं। देखा जाए तो यहीं प्रशिक्षण और वातावरण का अंतर सामने उभर कर आता है। एक वर्ग का अघ्येता हुए भी उनमें आपस में इतने चारित्रिक अंतर हैं कि उनके पढ़ने और समझने की प्रक्रिया ही बदल जाती है। इस तरह देखें तो पढ़ना और समझना वास्तव में उद्देश्य, प्रक्रिया और प्रविधि पर निर्भर करती है और बहुत साधारण से लेकर बहुत संश्लिष्ट रूप धारण करती है।

रामचरण पांडेय, शोधार्थी, दिल्ली विश्वविद्यालय
जवाहर नवोदय विद्यालय, सरधना, मेरठ–250342
मो0 : 09520291181, 09911632827

इब्बार रब्बी का कवि-कर्म

रामचरण पांडेय

दूसरे काव्यसंग्रह 'घोषणापत्र' तक आते-आते रब्बी अपनी कविता को समाज तथा राजनीति से जोड़ते हैं। निम्न मध्यवर्गीय जीवन का यथार्थ उनकी कविताओं में साफ दिखलाई देने लगता है। कवि सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने कहा था ''निम्न मध्यवर्गीय जीवन का संघर्षमय पारिवारिक यथार्थ उनकी पीठिका है, जिस पर वे बैठे हैं, जो रचते समय उनके मर्म में हिलती रहती है और सामाजिक राजनैतिक यथार्थ उनकी व्यास पीठि है जो लिखते समय उनके कलम को हिलाता रहता है।''[13]

समकालीन हिन्दी कविता के परिदृश्य पर इब्बार रब्बी आठवें दशक में अपनी पहचान बनाते हैं। आठवां दशक हिन्दी कविता के लिए काफी उर्वर दशक रहा है। साठोत्तरी कविता में अकविता और विद्रोही कविता में जिस तरह की निषेधवादिता व अराजकता की बाढ़-सी आ गई थी, उसे देखते हुए आठवें दशक की कविता को औसत मनुष्य के रोजमर्रा के जीवन से लगाव की कविता मानी गई। आठवें दशक में उभरने वाले कवियों में इब्बार रब्बी, राजेश जोशी, अरूण कमल, उदय प्रकाश, ज्ञानेन्द्रपति, ऋतुराज आदि प्रमुख कवि थे। इब्बार रब्बी अपने शुरूआती दौर में अकविता की काव्य - प्रवृत्तियों की ओर आकर्षित हुए थे लेकिन जल्द ही ''अपनी पुरानी रचनाधर्मिता को छोड़कर जनवादी आंदोलन के हिस्से बन गये''। आठवें दशक की कविता में जो नवप्रगतिवादी या जनवादी स्वर सुनाई पड़ता है उसमें इब्बार रब्बी की महत्वपूर्ण भूमिका है। लेकिन यहाँ पर रब्बी को जनवादी कवि साबित करने की कोशिश नहीं की जायेगी। जैसा कि मंगलेश डबराल ने कहा था ''रब्बी की कविताएँ मूलतः जनवादी है''।[1] आज कविता को परखने के औजार बदल गये

हैं। जनवाद या नवप्रगतिवाद अब पुरानी अवधारणा हो गई है। अब तो कविता में वर्ग-संघर्ष का लोप हो गया है। भूमंडलीकरण, उपभोक्तावाद, संचार क्रांति के चलते यथार्थ इतना जटिल और संश्लिष्ट हो गया है कि उसकी पहचान तक दूभर होती जा रही है। ऐसे में कवि का प्रथम दायित्व है- यथार्थ की जटिलता और उसकी संश्लिष्टता के प्रति सजगता।

'घोषणापत्र' (1981), 'लोगबाग' (1985) तथा 'वर्षा में भींगकर (2000) काव्य-संग्रहों में संकलित इब्बार रब्बी की कविताएं मुख्यत: निम्नमध्यवर्गीय जीवन से हमारा सामना कराती है। जिसे प्राय: सभी आलोचकों ने स्वीकार किया है। लेकिन रब्बी का पहला काव्य संग्रह 'खासती हुई नदी के लिए' 1969 ई. में प्रकाशित हुआ था जिसमें सन् (1967 से 1969 ई.) तक की कविताएँ संकलित थी। सुधीश पचौरी कहते हैं ''वह दौर अकविता आंदोलन का आखिरी दौर था। जब रब्बी ने पहली बार कविता में पदार्पण किया। इन कविताओं में जिन्दगी की 'एब्सर्डिटी' को जितने गहन ढंग से और व्यंगात्मक अंदाज में रब्बी ने उद्घाटित किया था, वह उन्हें आसानी से अकविता के शीर्ष हस्ताक्षरों में स्थान दे सकता है।''[12] रब्बी अकाविता के कवियों की तरह अश्लीलता की हद तक तो नहीं गये लेकिन 'प्रतीकों की नदियों में'[13] गोता लगाने की खूब ख्वाहिश थी। इसी के चलते बसों की बनियान रहित छातियां/होठों के बेल/बाहों के शार्क/और पगथलियों से फूटती सैंदुर महक'[14] में मन रमता था। इतना ही नहीं 'बंद कमरे' ही उन्हें ठीक लगते थे और किवाड़ों की 'झिर्री' को 'अपने रोमकूपों के अनहद नाद से'[15] 'मढ़' देना चाहते थे। ताकि एकांत और गोपनीयता बनी रहे। लेकिन ताज्जुब होता है कि एकांत और निजता की सुरक्षा का इतना ख्याल करने वाला कवि बाद में लिखता है ''भीड़ में कितना खुश रहता हूँ मैं/अपने में रहता हूँ मैं''।[16] इसकी चर्चा आगे की जायेगी। अभी कवि के 'खासती हुई नदी के लिए' की कविताओं पर ही ध्यान केन्द्रित करें तो कहना होगा कि घोर निजता में ही कैद हो जाने का मतलब है समाज से कट जाना। ओर समाज से कटने पर जो निरर्थकता बोध कवि को होता है उसके शिकार रब्बी भी रहे हैं। रब्बी कहते हैं ''खोलना, बंद करना/सारे-सारे दिन/सारी-सारी रात/और करने को क्या है/हमारे पास।''[17] इस निरर्थकता बोध की परिणति 'सीमेंट' कविता में होता है- ''प्लेटफार्म पर रखी हैं/सीमेंट की बोरियां/इनके बीच घुसकर/सोऊं रात-भर/दबकर घुट जाऊं/सीमेंट में/काला थत्ता रह जाऊं/मैं जिऊं नहीं/मुझे न साले/अपनापन।''[18] यह अकविता का प्रभाव है जो जीवन के प्रति निराशा से पैदा होता है। 'खासती हुई नदी' से तात्पर्य नदी के बीमार होने से है। प्रदूषण की महामारी से नदी खासने लगी है। देश की रूग्णता के चलती नदी भी रूग्ण हो गयी है- उस रात जब नदी खास रही थी/ गुलमोहर की डाल/मेंहदी की झाड़ और आंवले की/हर पत्ती कांप रही थी।[9] इसके माध्यम से कवि बताना चाहता है कि जिस तरह से नदी रुग्णावस्था में है उसी तरह से व्यक्ति, समाज व देश भी रुग्णावस्था में है। प्रेम भी रुग्ण हो गया है। कवि ऋतु राज इन कविताओं के विषय में टिप्पणी की थी- ''इन कविताओं में व्यक्ति सन्दर्भ दैनिक यौनाचार और अकविता के स्कूली फैशन से उलझकर रह गये हैं।''[10] इतना ही नहीं वे एक कदम आगे बढ़कर रब्बी की कमजोरियों को उद्घाटित करते हुए कहा था ''रब्बी के पास कोई ऐसा जोरदार प्रोग्राम नहीं है- कविता का प्रोग्राम

जो उनकी कविता में रमने वाली इन कमजोरियों को अपने से दूर रख सके। लिजलिजी, रुमानी और आदिम आवाज़ में बैरौनक गीत गाने की बजाय बेहतर होगा कि वे एक सुनिश्चित राजनीतिक फार्मूला वाली कविता 'ट्राई' करें''।[11] तो क्या ऋतुराज की इस टिप्पणी ने कवि को बदल दिया। जी, हाँ। रब्बी अपनी कविता में जो राजनीतिक स्पष्टता, साधारण से साधारण चीजों में छुपी भव्यता को पहचान पाने का विजन आगे हासिल कर पाते हैं वह कवि के सजग कवि-कर्म का परिचायक है। रब्बी ने स्वीकार भी किया है- ''इस पड़ाव में समाज, राजनीति मजदूर, किसान गांव आदि कुछ नहीं था। जीवन की खंडित दृष्टि थी।... 'लहर' में महान कवि ऋतुराज की समीक्षा पढ़कर यह भ्रमजाल टूटा। एक बड़े कवि ने डूबते को बचा लिया।''[12] आज के कृतघनता, और स्मृति विरोधी दौर में रब्बी की यह दोटूकपन स्वीकारोक्ति उनकी सरलता व निश्छलता को बयाँ करती है और कहना न होगा कि यही दो टूकपन, सहजता व निश्छलता उनकी कविता में दिखाई पड़ती है। जिसके चलते वे साधारण-से-साधारण चीजों को काव्य वस्तु बनाकर उसमें छिपे उसके सौन्दर्य को उजागर कर जाते हैं।

दूसरे काव्यसंग्रह 'घोषणापत्र' तक आते-आते रब्बी अपनी कविता को समाज तथा राजनीति से जोड़ते हैं। निम्न मध्यवर्गीय जीवन का यथार्थ उनकी कविताओं में साफ दिखलाई देने लगता है। कवि सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने कहा था ''निम्न मध्यवर्गीय जीवन का संघर्षमय पारिवारिक यथार्थ उनकी पीठिका है, जिस पर वे बैठे हैं, जो रचते समय उनके मर्म में हिलती रहती है और सामाजिक राजनैतिक यथार्थ उनकी व्यास पीठि है जो लिखते समय उनके कलम को हिलाता रहता है।''[13] विमल कुमार के अनुसार ''रब्बी की कविताएं निम्नमध्यवर्गीय व्यक्ति की परेशानियों दु:ख तकलीफों का विवरण है।''[14] कवि इसी पीठिका से शोषित तथा दमित लोगों के संघर्षमय जीवन का चित्रण भी किया है।

'झुग्गी वालों का गीत' कविता में रब्बी की स्पष्ट राजनीतिक चेतना दिखलाई पड़ती है- ''हम पच्चीस साल से वहीं के वहीं खड़े हैं/किरायेदार अंदर पसरे पड़े हैं।''[15] यह कविता 15 अगस्त की रजत जयंती पर लिखी गयी थी। यहाँ कविता में यह स्पष्ट है कि आजादी के 25 वर्ष बाद भी लोकतंत्र की अंतर्वस्तु में जनता का प्रवेश नहीं हो पाया। यहाँ सिर्फ शासक के चेहरे बदले हैं, शासन व्यवस्था जस की तस है- ''क्या फर्क है नये और पुराने में/हमें तो नहीं सौंपा उसने हमारा घर/जब उसका समान जा रहा था तुम्हारा आ रहा था।''[16]

रब्बी की कविता में श्रम का सौन्दर्य देखना हो तो 'मेज का गीत' कविता पढ़ी जानी चाहिए- ''इसके चार पैर हैं/एक अदद सीना है/तना हुआ पेट पीठ सब एक/यह बढ़ई का पसीना है।''[17] बढ़ई के श्रम से जिस मेज का निर्माण होता है वह कवि का पूरा 'ब्रह्मांड' और घर का विश्वकोस बन जाता है। मेज का सृजन श्रमशील वर्ग ने किया है और उसी मेज पर ''.....मुनाफा बिखर रहा है/मजदूरी संगठित हो रही है/यहाँ साहित्य राजनीति बन रहा है/राजनीति फेफडे में बदल गई।''[18] इन पंक्तियों के अर्थ जाहिर करने के आवश्यकता नहीं होनी चाहिए कि यहाँ श्रमशील

जनता का संगठित होने की बात कही गई है। ऐसी पंक्तियां रब्बी ने मार्क्सवाद के प्रभाव में लिखी है। भविष्य के प्रति गहरी आस्था रब्बी की कविताओं में दिखलाई देता है- ''यह बच्चा आदमी की कली है/जो मेरे कंधे पर खिली है।''[19] यानी आने वाला भविष्य बेहतर होगा और यह भविष्य अपने अतीत व वर्तमान से जुड़ा होगा। 'बच्चा घड़ी बनाता है' कविता में रब्बी लिखते हैं- ''बच्चा बड़ा हो रहा है/मेरे पैरों पर खड़ा हो रहा है।''[20] असगर वजाहत ने कहा है- ''मेरे ख्याल से 'बच्चा घड़ी बनाता है' की संवेदना रब्बी की कविताओं की मूल संवेदना है।... एक पत्रकार होने के बाद भी राजनीति पर लिखी उनकी कविताओं में वह दोष नहीं है जो पत्रकार कवियों की कविताओं में प्राय: आ जाता है।''[21]

आज जहाँ अर्थशास्त्री भारत की उभरती हुई अर्थव्यवस्था को गौरव मंडित करने में लगे हैं तो वहाँ एक संवेदनशील कवि की नजर उस घर में पहुँचती है जहाँ "फीस मांगती बहन है/घड़ी मांगता/रोजगार ढूंढता भाई है/... तनख्वाह पूछती पत्नी है।''[22] रब्बी ने घर पर इतनी ज्यादा कविताएं लिखी हैं कि सुधीश पचौरी कहते हैं ''रब्बी घर के कवि हैं। घर में रमते हुए। उसके एक-एक सामान से राग रखते हुए।''[23]

एक ओर जहाँ सरकारी तथा गैर सरकारी संस्थाएँ बच्चों के शोषण को रोकने का दावा करती हैं वहीं दूसरी तरफ सामाजिक यथार्थ कुछ और ही है- ''आठ साल का हो गया/पान सिंह/माँ देस भेज रही है उसे/आठ साल का है अभी बस/साफ बोल नहीं पाता/जायेगा दिल्ली/पता नहीं कहां रहेगा?/वहाँ क्या करेगा?/क्या खायेगा/बस मनीआर्डर करेगा जाते ही।''[24] कवि ने यहाँ पर बच्चे द्वारा 'मनी आर्डर' करने को बड़ी विडंबनात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। जिस बच्चे को अभी लिखने-पढ़ने खेलने-कूदने की उम्र है उसे अपनी मजबूर माँ के द्वारा पैसा कमाने के लिए दिल्ली भेजा जा रहा है।

रब्बी की कविताओं में सामाजिक यथार्थ वहाँ स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ता है जहाँ पर वे सुविधाजीवी संपन्न वर्ग के समानांतर विपन्न वर्ग को खड़ा करते हैं। 'झुग्गी वालों का गीत' कविता में ये दोनों वर्ग साथ-साथ आते हैं ''हम अधिक अन्न उपजा कर टाप रहे हैं/तुम उपवास के चमत्कार समझा रहे हो/हम उत्पादन बढ़ाकर हांफ रहे हैं/तुम तस्कर निर्यात चमका रहे हो।''[25] यानी की किसान अन्न उपजाकर भी भूखा है। मजदूर अपना पूरा श्रम लगाकर उत्पादन बढ़ा रहा है फिर भी आर्थिक स्थिति दयनीय ही हैं। 'पनासी के आदिवासी गीत' कविता में ऐसे-ऐसे घर हैं जहाँ ''कोठरी भरी हो नमक से/महुए के तेल से भरा हो आँगन/बोरियों में हो गेहूँ और चावल''[26] तो दूसरी तरफ ऐसे भी घर है जहाँ ''मटरा न हो दूर-दूर तक''।[27] एक ओर सभ्यता का विकास ऐसा कि ''रातों रात पेड़ तार हो गए''[28] तो दूसरी तरफ केन्द्र में रोटी रखी थी/सूर्य कुत्ते की तरह चाँद पर झपट रहा था/चाँद मुर्गे की तरह कुड़कुड़ करता/बादलों की झाड़ियों में/छिप रहा था।''[29] यह छीना-झपटी की संस्कृति वर्चस्वशाली वर्गों की संस्कृति है। यहाँ पर सूर्य से तात्पर्य उन लोगों से है जो वर्चस्वशाली हैं। जो चमक दमक रहे है तथा चांद से तात्पर्य साधारण लोगों से हैं। जीवित रहने

के लिए भूख की तृप्ति नितांत आवश्यक है। एक ओर सुविधा संपन्न खाये-पीये लोग हैं जो क्या-क्या खायें में मशगूल हैं तो दूसरी तरफ अभावग्रस्त व वंचित वर्ग जो 'क्या खाये' के लिए संघर्ष कर रहे हैं। 'भूखा आदमी' कविता में रब्बी दिखाते हैं ''भूखे आदमी को लगता है जैसे/वह नंगा हो गया।''[30] इसके बावजूद शोषणकारी शक्तियों के तंत्र में वह पिस रहा है। 'सड़क पार करने वालों का गीत' कविता में सुविधाजीवी वर्ग वाहन से हैं तो दूसरी तरफ थके हारे गरीब पैदल हैं- महामान्य महाराजाधिराजों के/निकल जाएं वाहन आयातित राजहंस/कैडलम, शाफर टोयोटा बसें और बसे/टैक्सियाँ और स्कूटर महकते दुपट्टे/टाइया ओर सूट निकल जाय ये प्रतियोगी/तब हम पार करें सड़क।''[31] यह असमानता और भेदभाव से भरी हुई दुनिया का यथार्थ है जहाँ वंचित तबका अपनी बारी के इन्तजार में ही समय गुजार देता है। डॉ. परमानन्द श्रीवास्तव ने ठीक लिखा है ''इब्बार रब्बी की कविताएँ उदाहरण है कि अपने अनुभव के क्षेत्र या परिवेश में रहकर भी इतिहास और समाज के जटिल यथार्थ का सामना किया जा सकता है।''[32]

रब्बी ऐसे विषयों को कविता के लिए चुनते हैं, जिस पर हम सबका ध्यान सामान्यत: बहुत कम जाता है। दिल्ली की बसों में यात्रा करने वाले लोग बसों के कंडक्टरों की कर्कशता और बेमुरौवत से परिचित होंगे। लेकिन रब्बी की कविता 'कंडक्टर' पढ़कर दिल्ली के कंडक्टरों के प्रति सहानुभूति पैदा हो जाती है- ''तुम सारे दिन चलते रहे/पर गये कहीं नहीं/तुम जीवन भर दौड़े/पर रहे वहीं के वहीं।''[33] यहाँ कवि ने विडंबना को पकड़ने में जबर्दस्त सफलता पाई है। कंडक्टर भी इस व्यवस्था में एक शोषित इंसान है जिसके दयनीय जीवन के विषय में कवि चिंतित है- ''हम क्या करें/कि तुम मुस्कराओ/क्या करें कि तुम्हारी/बच्ची स्कूल जाये क्या करें/क्या करें हम!/कि तुम्हारी पत्नी खीर पकाये।''[34] नीलाभ ने 'आज की कविता का माहौल' लेख में इस कविता को निराला की वह 'तोड़ती पत्थर' तथा 'भिक्षुक' कविता से जोड़कर देखते हुए कहा है कि ''निराला ने जो बीज बोया था वह फल फूल रहा है।''[35] कवि दिल्ली जीवन में इतना रम गया है कि उसे 'दिल्ली जीवन का कवि'[36] कहा जा सकता है। इसलिए दिल्ली से दूर होना कवि को असहनीय है 'जब चली रेल तो रुलाई आई/छूट रही है दिल्ली।''[37]

रब्बी के यहाँ जिस गरिमामय प्रेम का चित्रण मिलता है वह उनके अन्य समकालीन कवियों में दुर्लभ है। रब्बी के यहाँ प्रेम जिस सादगी के साथ आता है। उसकी भव्यता उतनी ही बढ़ जाती है- ''तुम वहाँ नहा रही होगी/साबुन छूटा रही होगी/पानी उलीचो गाल पर/बिंदी यहाँ चमके/घर के रोम-रोम में।''[38] और इसी ''एक बिंदी को ही/समर्पित सारी सयाही/कागज कारखाने/जंगल के जंगल।''[39] एक छोटी-सी बिन्दी का घर के रोम-रोम में चमकना प्रेम की पराकाष्ठा है। साधारण का सौन्दर्य ही रब्बी की ताकत है। वे साधारण से साधारण वस्तु को भी कविता का विषय बनाकर असाधारण बात कह देते हैं। साधारण व मामूली चीजों को लेकर जितनी प्रभावशाली कविता रब्बी ने लिखी है उतना उनके अन्य समकालीन कवियों के यहाँ देखने को नहीं मिलती। 'अरहर की दाल'[40] उनकी ऐसी ही कविता है। दैनंदिनी जीवन में प्रयोग होने वाली वस्तुओं

को कविता का विषय बनाकर उसके सौन्दर्य का उद्‌घाटन करने में रब्बी अद्वितीय हैं। अगर ''कविता का स्वार्थ आदमियत की पहचान को खत्म न होने देना है''[41] तो रब्बी की कविता आदमियत की पहचान को बचाये रखने के लिए सचेत है। रब्बी की कविता में जनसाधारण के सुख-दुख और संघर्षों से भरा पूरा परिवेश है। इसलिए उनके यहाँ ''मात्र विचार नहीं/पूरा घर है कविता।''[42] इसलिए विश्वनाथ त्रिपाठी का यह कहना बहुत महत्व रखता है कि ''इब्बार रब्बी की कविताएं पाठक को सामान्य परिवेश से सम्पृक्त होना, दुखी-सुखी होना, अपनी असफलताओं के बावजूद सामान्य, सामाजिक और उल्लसित होने का तरीका बताती है।''[43]

रब्बी की कविता में व्यक्त सामाजिक यथार्थ के केन्द्र में हाशिए पर जी रहे तबको के लोग उनकी वर्तमान और भावी चिन्ता के विषय हैं। कवि को विश्वास है ''आज जो मलबा है/कल टील रह जायेगा/परसो उगेंगे घास/नरसों फूल/गंध भर जायेगी यहाँ।''[44]

संदर्भ

1. 'उद्‌भावना' अक्टूबर-दिसम्बर, 1987 / 2. नवभारत टाइम्स नई दिल्ली, 22 अगस्त, 1982 / 3. 'कवि ने कहा' इब्बार रब्बी किताब घर प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2012, पृ. 14 / 4. वही, पृ. 15 / 5. वही / 6. 'वर्षा में भींगकर' पृ. 66 किताबघर नई दिल्ली संस्करण 2000 / 7. 'कवि ने कहा' पृ. 19 / 8. वही, पृ. 20 / 9. वही, पृ. 17 / 10. लहर सितम्बर 1969, पृ. 33, अजमेर / 11. वही, पृ. 34 / 12. 'कवि ने कहा' इब्बार रब्बी, पृ. 16 / 13. 'दिनमान' 16 मई, 1982 ई., दिल्ली / 14. 'दीर्घा' पृ. 99 / 15. 'घोषणापत्र' पृ. 3 'अक्षय प्रकाशन' नई दिल्ली प्रथम संस्करण 1981 / 16. वही / 17. 'कवि ने कहा' इब्बर रब्बी, पृ. 25 / 18. वही, पृ. 28 / 19. वही, पृ. 37 / 20. वही / 21. 'लहर' 1981, पृ. 61, अजमेर / 22. 'घोषणापत्र' पृ. 21 / 23. 'कविता का अंत' पृ. 39 प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, संस्करण 1994 / 24. 'लोगबाग' पृ. 67 / 25. 'घोषणापत्र' पृ. 4 / 26. लोगबाग, पृ. 103 / 27. वही / 28. 'वर्षा में भीगकर' पृ. 14 / 29. वही, पृ. 70 / 30. वही, पृ. 73 / 31. 'लोगबाग', पृ. 101 / 32. समकालीन कविता का यथार्थ, पृ. 246, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, प्रथम संस्करण 1988 / 33. 'लोगबाग', पृ. 78 / 34. वही / 35. 'नई कहानी' जुलाई 1988 सं. सतीश जमाली, पृ. 190 / 36. अरबिन्द त्रिपाठी 'कवियों की पृथ्वी', पृ. 166 आधार प्रकाशन पंचकूला, प्रथम संस्करण 2004 / 37. 'कवि ने कहा', इब्बार रब्बी, पृ. 118 / 38. 'वर्षा में भीगकर' पृ. 10 / 39. वही / 40. 'कवि ने कहा' इब्बार रब्बी, पृ. 71 / 41. 'नित्यानंद तिवारी आधुनिक साहित्य और इतिहासबोध, पृ. 69, वाणी प्रकाशन, दिल्ली संस्करण 1994 / 42. 'लोगबाग', पृ. 12 / 43. 'वर्षा में भीगकर' पुस्तक के फ्लैक से उद्धृत / 44. 'वर्षा में भीगकर' पृ. 31

प्रसिद्ध युवा आलोचक–रंगकर्मी शिक्षा : एम.फिल, पीएच.डी. दिल्ली विश्वविद्यालय से। देश के कई प्रतिष्ठित पत्र–पत्रिकाओं और सम्पादित पुस्तकों में लेख प्रकाशित।
पुस्तकें : 'साहित्य का रंगचिंतन', 'भारतेंदु : एक नई दृष्टि'।
पुरस्कार : पाथेय हिंदी सेवा सम्मान, संस्कार सारथी सम्मान, अभी हाल ही में राष्ट्रभाषा स्वाभिमान न्यास की ओर से 'कथा भूषण सम्मान' दिया गया।
संप्रति : दिल्ली विश्वविद्यालय के दयाल सिंह सांध्य महाविद्यालय में सहायक प्रवक्ता
संपर्क : 8010776556

हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाए।

लहरी राग गीणा

भारतेंदु युग एक संक्रमणकालीन युग से गुजर रहा था। जिसके राजभक्ति और राष्ट्रभक्ति का द्वंद्व, दरबारी संस्कृति और जनसंस्कृति की टकराहट, मध्यकालीनता और आधुनिकता का संघर्ष, पुरातनता और नवीनता खड़ी बोली एवं ब्रजभाषा के मध्य अंतर्विरोध की स्थिति भारतेंदु युग में गहन स्तर पर देखने को मिलती है।

आधुनिक युग भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाम से जाना जाता है। भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाम से एक नये युग की पहचान की गई जिसे 'भारतेंदु युग' के नाम से जाना गया। हिंदी में अब तक युगों की पहचान का श्रेय भारतेंदु हरिश्चंद्र और महावीर प्रसाद द्विवेदी को ही मिला है। भारतेंदु आधुनिक हिन्दी साहित्य के फलक पर उदित होने वाला वह धूम केतु तारा है, जिसने अपने अतुल प्रकाश एवं रचना वैभव से जीवन के न जाने कितने पक्षों को रोशन किया है। युग निर्माता भारतेंदु एक महामानव के गुणों से ओत-प्रोत थे, जिसने अपन अल्पसमय में साहित्य के अलावा जीवन के अनेक पक्षों की सेवा की। भारतेंदु एक सांस्कृति-सुधारवादी आंदोलन की नींव रखने वाले ही नहीं थे, बल्कि लोकजागरण की नींव रखने वाले आधुनिक समय के सबसे पहले कवि थे। भारतेंदु (1850-85) का समय संघर्ष की परंपरा का समय न होकर विपयर्य का समय था। भारतेंदु ने नाटक, पत्र-पत्रिका निबंध, भाषण आदि माध्यमों द्वारा जनता के हृदय को झकझोर कर उन्हें जाग्रत करते हुए, यह

स्वीकार करने को मजबूर कर दिया कि हमारा कल्याण हमारी भाषा और संस्कृति में ही निहित है- ''निज भाषा उन्नति अहैं, सब उन्नति को मूल।''

भारतेंदु साहित्य में जिस आधुनिकता का सुत्रपात देखा जाता है वह मध्यकालीन मानस के साथ आधुनिक चेतना के अंर्तद्वंद्व का ही परिणाम है। ऐसे में उस युग को देखना परखना जरूरी हो जाता है कि जिसमें रहकर भारतेंदु ने साहित्य और संस्कृति को नवीन रास्ते पर लाने की कोशिश की। इसी संदर्भ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का कहना है कि ''हिंदी साहित्य अपने पुराने रास्ते पर ही पड़ा था। भारतेंदु ने उस साहित्य को दूसरी ओर मोड़कर हमारे जीवन के साथ फिर से लगा दिया। इस प्रकार हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद पड़ रहा था। उसे उन्होंने दूर कर दिया। हमारे साहित्य को नये-नये विषयों की ओर प्रवृत्त करने वाले हरिश्चंद्र ही हुए।''[1]

भारतेंदु युग एक संक्रमणकालीन युग से गुजर रहा था। जिसके राजभक्ति और राष्ट्रभक्ति का द्वंद्व, दरबारी संस्कृति और जनसंस्कृति की टकराहट, मध्यकालीनता और आधुनिकता का संघर्ष, पुरात्तनता और नवीनता खड़ी बोली एवं ब्रजभाषा के मध्य अंतर्विरोध की स्थिति भारतेंदु युग में गहन स्तर पर देखने को मिलती है।

हिन्दी रंग परंपरा की शुरूआत भारतेंदु युग से ही प्रारंभ होती हुई आज धर्मवरी भारती, मोहन राकेश जयशंकर प्रसाद, लक्ष्मीनारायण लाल, मृणाल पाण्डे, रामेश्वर, मणि मधुकर, नंदकिशोर आचार्य, मीराकांत, असगर वजाहत, सुरेन्द्र वर्मा आदि तक दिखाई देती है। भारतेंदु का समग्र रंगबोध अपने युगीन समय के बदलते अनेक स्तरों सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन के अनेक स्तरों के अंतर्संबंध स्थापित करने तक हैं। स्वतंत्र भारत के बदलते शासन की लबी परंपरा का यथार्थवादी नाटक है भारत-दुर्दशा और अंधेर नगरी। 'भारत-दुर्दशा' नाटक ब्रिटिश समय में भारतीय समाज की यथार्थ-स्थिति का चित्र प्रस्तुत करता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भारतेंदु को आधुनिक हिंदी गद्य के जन्मदाता मानते थे। उन्होंने हिंदी की निबंध परंपरा को जन्म दिया और वह हिन्दी के पहले सफल एवं सशक्त पत्रकार भी माने जाते है। भारतेंदु सेठ अमीचंद के वंशज में श्री पार्वती देवी की कोख से उत्पन्न हुए, जिन्होंने आगे चलकर प्रतिज्ञा की- ''इस धन ने मेरे पुर्वजों को खाया हैं, अब मैं इसे खाऊँगा।''[2] उनमें राष्ट्रप्रेम की भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी। मध्ययुग के अंत की घोषणा करते हुए वे कहते हैं ''देखा विद्या (ज्ञान-विज्ञान) का सूर्य पश्चिम से उदय हुआ चला आ रहा है। अब सोने का समय नहीं है मुर्खों के शासन बीत गए, अब राजा ने प्रजा का स्वप्न पहचान लिया है। और विद्या की चर्चा फैली चली, सबको कुछ कहने सुनने का पूरा अधिकार मिला, देश-विदेश से नई कारीगरी और विद्या आयी।'' कहने का तात्पर्य यह है कि भारतेंदु इस विषयों को लेकर बहुत जागरूक और

सक्रिय ये तथा भारतीय समाज के पुराने ढ़ाँचे के प्रति असंतोष एवं आक्रोश था। वे पूर्णत: सुधार चाहते थे।

आधुनिक नवजागरण की शुरूआत भारतेंदु युग से ही मानी जाती है। वे 19वीं शताब्दी में साहित्य एवं समाज के युगदृष्टा थे। उन्हीं के समकालीन कवियों ने उन्हें 1880 के आस-पास 'भारतेंदु' की उपाधि से सम्मानित किया। भारतेंदु अपने युग में एक समन्वयात्मक बुद्धि लेकर उत्पन्न हुये; उन्होंने न केवल समाज सुधार के क्षेत्र में बल्कि साहित्य की संमूर्ण विद्याओं पर लेखन कार्य किया। विशेष रूप से नाट्य क्षेत्र आदि। इसी संदर्भ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का कहना है कि ''भारतेंदु के नाटकों में सबसे पहले ध्यान इस बात पर जाता है कि उन्होंने सामग्री जीवन के कई क्षेत्रों से ली है... नाटकों की रचना शैली में उन्होंने मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया। न तो बंगला नाटकों की तरह प्राचीन भारतीय शैली को एक बारगी छोड़ अंग्रेजी नाटकों की नकल पर चले और न प्राचीन नाट्यशास्त्र की जटिलता में अपने को फसाया। उनके बड़े नाटकों में प्रस्तावना बराबर रहती थी। पताका, स्थान आदि का प्रयोग भी कहीं-कहीं कर देते थे।''[3]

हिन्दी रंग परंपरा की शुरूआत भारतेंदु युग से ही प्रारंभ होती हुई आज धर्मवरी भारती, मोहन राकेश जयशंकर प्रसाद, लक्ष्मीनारायण लाल, मृणाल पाण्डे, रामेश्वर, मणि मधुकर, नंदकिशोर आचार्य, मीराकांत, असगर वजाहत, सुरेन्द्र वर्मा आदि तक दिखाई देती है। भारतेंदु का समग्र रंगबोध अपने युगीन समय के बदलते अनेक स्तरों सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन के अनेक स्तरों के अंतर्संबंध स्थापित करने तक हैं। स्वतंत्र भारत के बदलते शासन की लबी परंपरा का यथार्थवादी नाटक है भारत-दुर्दशा और अंधेर नगरी। 'भारत-दुर्दशा' नाटक ब्रिटिश समय में भारतीय समाज की यथार्थ-स्थिति का चित्र प्रस्तुत करता है।

'भारत-दुर्दशा' (1880) उन्नसवीं शताब्दी में लिखा गया ऐसा नाटक है जिसमें वर्तमान समय की तत्कालीन भारतीय पस्थितियों का यथार्थ चित्रण देखने को मिलता है। लक्षणों की दृष्टि से देखा जाए तो नाट्यरासक में एक अंक होना चाहिए लेकिन भारतेंदु ने इसमें छ: अंकों में ध्यान में रखते हुए रचना की। दरअसल ये छ: अंक नहीं है बल्कि छ: दृश्यों में विभाजित है। 'भारत-दुर्दशा' द्वंद्वकी सामाजिक भूमिका का नाटक है। स्वयं भारतेंदु ने इसे 'नाट्यराक' या 'लास्य रूपक' कहा है। और ये नाट्यरासक उपरूपक के अट्ठारह भेदों में प्रचलित है। भेद संलापन, श्री गदित, रासक, प्रेखण, उल्लाप्य, संलापन, दुर्मल्लिका, मणिका प्रस्थान, हल्लीश, त्रोटक, सट्टक, नाट्यरासक काव्य, प्रकरणी गोष्ठी, शिल्पक, विलासिता नाटक के 'सिद्धांत विवेचन' में स्वयं भारतेंदु ने नाट्य रासक की विशेषता बताते हुए लिखा है कि ''इसमें एक अंक, नायक उदात्त, नायिका वासक सज्जा, पीठमर्द उपनायक और अनेक प्रकार के गान नृत्य होते है।''[4] भारतेंदु के दौहित्र श्री ब्रजरत्नदास ने भी 1935 में भारतेंदु के नाट्य कर्म पर विचार करते हुए इसी तथ्य की और संकेत किया था- ''इसमें नाटककार ने भारत के प्राचीन गौरव का औजस्वीनी भाषा में वर्णन कर वर्तमान समय की दुरावस्था पर आँसू बहाए हैं। इसके पाठकों और दर्शकों पर इस दु:खांत रूपक का स्थायी

प्रभाव पड़ता है और केवल करुण रस में निमग्न होकर ही वे नहीं रह सकते। इसी नैराश्य में भारत की अवनति के मूल कारणों के उच्छेदन करने की ईप्सा उनमें जाग्रत हो जाती है। इसके कुछ पदों में देश की दुरावस्था पर जो कुछ कहा गया है। वह ऐसा कारण है कि उन्हें पढ़कर स्वदेश प्रेमियों के मन उद्धेलित हो जाते हैं। क्यों न हों, वे एक सच्चे देशभक्त के हृदय रक्त से सिचिंत है।''[5] इसलिए कहना न होगा कि 'भारत-दर्दशा' में चित्रित द्वंद्वएकपक्षीय नहीं, बल्कि सामाजिक यथार्थ की स्थिति का बड़ा यथार्थपरक चित्रण है।

'भारत-दर्दशा' नाटक का प्रारंभ मंगलाचरण के साथ शुरू होता है। पहले अंक का स्थान' वीथी है जिसमें एक योगी गाता हुआ आता है। दूसरे अंक के स्थान में श्मशान, टूटे-फुटे मंदिर, कौआ, कुत्ता, स्यार घुमते हुए दिखाई देते है और अस्थियाँ इधर-उधर पड़ी हुई हैं। और उसमें 'भारत' का प्रवेश होता है। तीसरे अंक के दृश्य में मैदान है जिसमें फौजे डेरे डाले दिखाई पड़ती हैं। चौथे अंक के अंग्रेजी ढंक से सजा हुआ कमरा दिखाई देता है। पाँचवें अंक में प्रस्तुकालय की बैठक का दृश्य दिखाई देता है। और छः अंक के वन में मध्य भाग में एक वृक्ष का दृश्य दिखाई देता है। इस नाटक की विषय वस्तु से भारत की तदयुगीन यथार्थ स्थिति का चित्रांकन किया गया है। इसमें गुलाम भारत की परतंत्रता, अंधविश्वास, दुर्दशा, गरीबी, पीड़ा, अज्ञानता, महामारी, अशिक्षा, जातिवाद, रूढ़िवाद, बालविवाह, विधवा विवाह, धार्मिक फूट, निर्बलता आदि स्थितियों का चित्रण करते हुए राष्ट्रप्रेम और नवजागरण की भावना का उद्‌बोधन किया गया हैं।

प्रथम अंक में अतीत का गौरवपूर्ण चित्रण एक योगी के माध्यम से गाया गया है। उसमें कहा गया कि जिस देश को ईश्वर ने रूप, रंग, रस, विद्या, धन, आदि दिया तथा अतीत के गौरव का चित्रण करते हुए भारतेंदु ने राम, युधिष्ठिर, कृष्ण, हरिश्चंद्र एवं अर्जुन जैसे वीर, परोपकारी पुरुषों को याद करते हुए बताया कि इनके समय में भारत महान था, सर्वत्र सुख शांति व्याप्त थी मगर आज देखों चारों तरफ हर तरह का दुःख-ही-दुख है। बल, बुद्धि, कर्म, धन आदि का नाश हो चुका है और ऊपर से अंग्रजों ने अनेक प्रकार के टैक्स लगाकर महंगाई बड़ा दी और अनेक प्रकार की महामारियाँ सर्वत्र व्याप्त हो गई है। अंग्रेजों के आने से भारतीयों को सुख प्राप्त हुआ है परन्तु सबसे ज्यादा दुःख इस बात का है कि हमारा धन विदेश जा रहा है। जिस पर ईश्वर की कृपा सबसे पहले हुई उसकी दुर्दशा अब नहीं देखी जाती।

''रोवहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
हाँ हाँ! भारत-दुर्दशा न देखी जाई।।

जहँ राम युधिष्ठिर बासुदेव सर्याती।
जहँ भीम करन अर्जुन की छटा दिखाती।।

तहँ रही मूढ़ता कलह अविद्या राती
अब जहँ देखहु तहँ दुःखहिं दुःख दिखाई।

अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात रहै अति ख्वारी।

सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हाँ हाँ! भारत-दुर्दशा न देखी जाई।।''[6]

दूसरे अंक के दृश्यबंध में 'श्मशान' का दृश्य है जिसमें टूटे-फूटे मँदिर, कौआ, कुत्ता, स्यार घुमते हुए और लासे इधर-उधर पड़ी हुई नजर आती है। इसके भारत, निर्लज्जता और आशा नामक पात्र प्रतिकात्मक है। भारत निराश होता हुआ सोच रहा है कि यह वही भूमि है जहाँ प्रत्येक रूप से भगवान श्री कृष्ण के दुतत्त्व करने पर भी दुर्योधन ने कहा था, 'सूच्यग्रं नैव दास्यामि बिना युद्धेन शव' और आज हम उसी मानव जाति तथा भूमि को देखते है तो वह श्मशान नजर आती है। जिस तरह आज के समय में पूरी विश्वरूपी दुनिया इस युद्ध रूपी आतंकवाद से डरी हुई है आज पूरा विश्व युद्ध की विध्वंसनता में किसी ना किसी रूप में लिपटा हुआ नजर आ रहा हैं। नाटककार कहता है कि यहाँ की योग्यता विद्या, सभ्यता, उद्योग उदारता, धन, बल, मान, दृढ़चिंतता और सत्यता ये सब कहाँ गये। जिस तरह वर्तमान समय में देखा जाए तो जो भारतीय प्रतिभा पलायन हो रहा है तो उसके बारे में सोचते है तो एक प्रकार की निराशा ही हाथ लगती हुई नजर आती है। और भारत ग्लानि, निराशा, लज्जा, दीनता के कारण इधर-उधर भटकता फिर रहा है, उसे राजरानी की एक उम्मीद थी की वो कुछ दशा सुधारेगी परन्तु वो भी सात-समुद्र पार है, अब मेरी कोन सहायता करेगा। मेरी दशा को देखने वाला कोई नहीं ऐसी स्थिति में वो एक गीत गाता हुआ कहता है-

''कोऊ नहिं पकरत मेरो हाथ।
बीस कोटि सुत होत फिरत मैं हाँ हाँ होय अनाथ।।

दिन दिन बिपति बढ़त सुख छीजत देत कोऊ नहिं साथ।
सब विधि दुख सागर मैं डूबत धार उबारौ नाथ।।''[7]

तीसरे अंक का दृश्यबंध 'मैदान' है जिसमें फौज के डेरे दिखाई देते हैं। इस अंक में दो पात्र हैं- भारत दुर्देव एवं सत्यनाश फोजदार। भारत-दुर्देव उपनायक है। और वह भारत को मुर्ख कहता है कि वह अब परमेश्वरी और राजरानी पर भरोसा करता है और चेतावनी देता है कि देखते है कि कैसे रोकते हैं भारत की दुर्दशा को और वह उन सारे कारणों को बताता हुआ कहता है कि कैसे हमने भारतीयों की दुर्दशा की। मँहगाई, रोग, आलस्य, भूख, फूट, बैर, कलह, दुख, महामारी ये सारी चीजे लाकर भारत को बर्बाद कर दिया है। वह कहता है कि-

मुझे तुम सहज न जानो जी, मुझे इक राक्षस मानो जी।
''कौड़ी[2] को करूँ, काल भी लाऊँ, मैं सबको मुहताज।

मँहगी लाऊँ, और बुलाऊँ रोग।
घर-घर में आलस फैलाऊँ, छाऊँ दुख घनघोर।

मरी बुलाऊँ देस उजाड़ूँ, मँहगा करके अन्न।''[8]

और आगे नाचता हुआ सत्यानाश फौजदार आता है। वह बोलता है कि हमने धर्म, छुआछूत, जातिवाद और बाल विवाह को बढ़ाया है हम अब सबको शराबी बनायेंगे और सबको बर्बाद करेंगे। हमने ऐसा कार्य किया है कि भारतीयों को अकर्मण्य, आलसी, निकम्मा और स्वार्थी बना दिया है। अब उनको अपने पेट पूर्ति से मतलब है देश दुनिया से कोई मतलब नहीं है। आगे सत्यानाश भारत-दुर्देव से कहता है कि- ''अब हिंदुओं को खाने मात्र से काम, देश से कुछ काम नहीं।''[9]

इसी प्रकार सत्यानाश आगे कहता है कि शत्रुओं की सेना में अपव्यय, अदालत, फूट-डाह, भय, लोभ, स्वार्थता, उपेक्षा, फैशन, सिफारिश, हठ, शोक आदि दूतों को शत्रुओं की फौज में हिला-मिलाकर ऐसा पंचामृत बनाया है कि सारे दुश्मन बिना मारे ही मर जायेगें। यहाँ पर भारतीयों के चारित्रिक पतन की ओर संकेत किया गया है।

चौथे अंक का दृश्य अंग्रेजी ढंग से सज्जा कमरा है जिसमें मेज, कुर्सी लगी हुई है जिस पर भारत-दुदैव आकर बैठता है और रोग, आलस्य, मँदिरा, अंधकार सभी को बुलाकर भारत की दुर्दशा करने का आदेश देता है। सबसे पहले रोग आकर कहता है ''मेरा प्रभाव जगत् विदित है। कुपथ्य का मित्र और पथ्य का शत्रु मैं ही हूँ। नजर, भूत, दूत, प्रेत, टोना-टोटका, देवी, देवता सब मेरे ही वश में है और मेरे ही आशीर्वाद से ओझा, सयाने, पंडित ये सब सिद्ध लोगों को ठगते हैं।'' आगे वह इसी संदर्भ में कहता है कि महाराज हम विस्फोटक, हैजा, डेंगू, अलपाक्सी भेजेगें। भला इनको हिंदू लोग क्या रोकेंगे?''[10]

आगे फिर आलस्य का प्रवेश होता है जो भारतीयों की अकर्मणयता की ओर संकेत करता है। और फिर मदिरा आती है और कहती है कि मैं भगवान सोम की कन्या हूँ और वह कहती है कि धन-बल, बुद्धि, कुल, लज्जा, पति, माय, बाप, सब कुछ मेरे अधीन है, वह कहती है कि-

''मेरी तो धन बुद्धि बल, कुल लज्जा पति गेह।
माय बाप सुत धर्म सब, मँदिरा ही न संदेह।।''[11]

और अंतिम दृश्य में अंधकार का प्रवेश होता है और उनकी ध्वनि आंधी की भाँति सुनाई देती है। भारत-दुदैव उनका स्वागत करता हुआ कहता कि तुम्हारी ही कमी थी क्योंकि तुम्हारे बिना सारे कार्य कमजोर है। और वह अंधकार को आदेश देता है कि हिन्दुस्तान में जाकर हमारे हित काम करो और फिर अंधकार जाता है और कहता है कि-

''निहचै भारत को अब नास।
जब महाराज विमुख उनसों तुम निज मति करि प्रकाश।।''[12]

इस अंक के माध्यम से भारतेंदु भारतीयों की सामाजिक दुर्दशा, अंधकार, अंधविश्वास आलस्य, अकर्मण्यता, दुख: विषाद, गरीबी और निराशा में पड़ा हुआ देखते हैं। यहाँ देशी शासकों

में इतनी शक्ति नहीं रहीं कि वह अंग्रेजों का डटकर मुकाबला कर सके और भारतीयों को दु:ख, गरीबी और निराशा से उभार सके। क्योंकि भारतीय देशी राजाओं की शक्ति आपसी गृह कलह, फूट, आपसी द्वेष की वजह से पहले ही कमजोर होती जा रही थी। इस अंक में भारत की उस समय की यथार्थ स्थिति की ओर संकेत किया गया है।

पाँचवां अंक का दृश्य 'किताबखाना' है, जिसमें सात सभ्यों की एक छोटी सी कमेटी यह सोच रही की कैसे भारत को भावी संकटरूपी आक्रमण से कैसे बचाया जाय, कैसे देश की रक्षा की जाए। सात सभ्यों में एक सभापति, एक बंगाली, एक महाराष्ट्री, एक एडिटर, एक कवि तथा दो देशी महाशय बैठे हुए नजर आते हैं और सभी भारत-दुर्दैव के आक्रमणों से चिंतित और दु:खी नजर आते है। सात सभ्यों में सभी अपने-अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हुए नजर आते हैं और इन पात्रों के माध्यम से भारतेंदु भारत को दुर्दशा से निकालने का प्रयास करते हैं। इस अंक की प्रमुख विशेषता यह है कि यह पूरा अंक गद्यमय संवादों में रचा गया है। दूसरा प्रमुख कारण यह कि इसके पात्र प्रतीक न होकर भारत के प्रमुख वर्गों का प्रतिनिधितत्व करने वाले मानवीय रूप हैं 'डिसलायल्टी' पूर्ण प्रतीक पात्र है। इस अंक के माध्यम से नाटककार यह व्यंग्य कहना चाहते है कि देश गुलामी में रहे और सरकार किसी भी तरीके से यह नहीं चाहती कि बुद्धिजीवी, लेखक, विवेकशील वर्ग जाग्रत हो और देश में जाग्रति की भावना पैदा करे या इसके बारे में सोच विचार करें। समिति द्वारा भारत-दुर्दैव से जो बचने के उपाय या तरीके बताये जाते हैं वह एक प्रकार से प्रभावहीन और अर्थहीन है जिसका कोई मतलब नहीं बनता है। इनमें देशहित, राष्ट्रहित के प्रति कोई गंभीर चिंतन नहीं दिखाई देता है। अंत में डिसलायल्टी आकर गिरफ्तार कर लेती है और समिति भंग हो जाती है। कवि के माध्यम से समिति में जो विचार सामने आते है उसे यह उस समिति की मानसिकता का द्योतक प्रतीक है- जिसमें कवि खड़े होकर कहता है- ''मुहम्मदशाह से भाँड़ों ने दुश्मन की फौज से बचने का एक बहुत उत्तम उपाय कहा था। उन्होंने बतलाया कि नादिरशाह के मुकाबले में फौज न भेजी जाय। जमुना किनारे कनात खड़ी कर दी जाय,कुछ लोग चूड़ी पहने कनात के पीछे खड़े रहें। जब फौज इस पार उतरने लगे, कनात के बाहर हाथ निकालकर उँगली चमकाकर कहें ''मुए इधर न आइयो इधर जनाने है।'' बस सब दुश्मन हट जायेंगे। यही उपाय भारत दुदैव से बचने को क्यों न किया जाए।''[13]

नाटक के पाँचवें अंक में 'डिसलायल्टी' के प्रवेश पर बड़े शिष्टाचार से सभापति कहता है ''आप क्यों यहाँ तशरीफ लाई हैं?कुछ हम लोग सरकार के विरुद्ध किसी प्रकार की सम्मत्ति करने को एकत्र नहीं हुए हैं। हम लोग अपने देश की भलाई करने को एकत्र हुए हैं।''[14] लेकिन हकीकत यही है कि जिस तरह से आज की शासन प्रणाली में जो वास्तविकता देखने को मिलती है कि जो सरकार सत्ता में है और उस के खिलाफ अन्याय होने पर अगर आप विरोध करते है आवाज उठाते हैं तो आप सरकार के सत्ता विरोधी कहलाने लग जाओगें, आप के हर कार्य को पीछे की तरफ कर दिया जायेगा, क्योंकि आपने सरकार की हाँ में हाँ नहीं मिलाई। सरकार की नीतियों की

प्रशंसा नहीं की, उसे जनता हितैषी बताया। भारतेंदुयुगीन समय में देशहित की सोचना ही सरकार के खिलाफ सोचना है। यही इस नाटक के माध्यम से नाटककार कहना चाहता है। वर्तमान निरकुंश शासन प्रणाली का प्रतीक जिस तरह से डिसलायल्टी द्वारा 'हाकिमेच्छा दफा' को गिरफ्तार करना वर्तमान निरकुंश शासन प्रणाली का प्रतीक है। इसी प्रकार सात सभ्यों से उनके मन की बात को कहलवाकर भारतेंदु ने उनके व्यक्तित्त्व और उस समय की स्थिति से अवगत कराया है। साथ ही इस अंक में दृश्य के अंत में ब्रिटिश सरकार के आतंक का प्रभाव भी दिखाई देता है।

छठें और अंतिम अंक का स्थान 'गंभीर वन का मध्यभाग' है, जहाँ भारत एक वृक्ष के नीचे अचेत पड़ा है, और वहाँ भारतभाग्य का प्रवेश होता है। वह अचेत पड़े भारत को जगाने का प्रयास करता है, लेकिन वह जागता नहीं है; इसके बाद वह अनेक प्रत्यन करने के बाद वह उदास होकर भारत के गौरवशाली परपरा का यशोगान करता हुआ कहता है–

''भारत के भुजबल जग रक्षित।
भारत विद्या लहि जग सिच्छित''

भारतेज जगत् विस्तारा।
भारतभय कम्पत संसारा।।

जाके तनिकहिं भौहं हिलाएँ।
थर थर कम्पत नृप डरपाए।।

जाके जय की उज्ज्वल गाथा
गावत सब महि मंगल साथा।

भारत किरिन जगत् उँजियारा।
भारत जीव जिअत संसारा।''[15]

किंतु भारतभाग्य भारत को फिर पुनः उठाने का प्रयास करने के बाद असफल होने पर कहता है– ''हाँ! भारतवर्ष को ऐसी मोहनिद्रा ने घेरा है कि अब इसके उठने की आशा नहीं। सच है, जो जानबूझकर सोता है उसे कौन जगा सकेगा?हाँ दैव! तेरे विचित्र चरित्र हैं जो कल राज करता था वह आज जूते में टाँका उधार लगवाता... है। आगे भारतभाग्य के माध्यम से भारतेंदु यह कहते है कि ''हाँ! जिस भारतवर्ष का सिर व्यास, वाल्मीकि, कालिदास पाणिनी, शाक्यसिंह, बाणभट्ट, अशोक, चन्द्रगुप्त, राम, युधिष्ठिर, नल, हरिश्चंद्र, रन्तिदेव इत्यादि पवित्र चरित्र के लोग हुए हैं उसकी यह दशा! हाय भारत भैया उठो। देखो विद्या का सूर्य पश्चिम से उदय हुआ चला आ रहा है। अब सोने का समय नहीं है। अंग्रेज का राज्य पाकर भी न जगे तो कब जागोगे?मुखों के प्रचंड शासन के दिन गए, अब राजा ने प्रजा का स्वप्न पहचान लिया है। विद्या की चर्चा फैल चली, सबको सब कुछ कहने सुनने का अधिकार मिला, देश–विदेश से नई विद्या और कारीगर आई। हाय अब भी भारत की यही दुर्दशा।'' और यहाँ अंत में भारतभाग्य कमर से कटार निकालकर हे

सत्त्वांतमयी! हे परमेश्वर! जन्म-जन्म मुझे भारत जैसा भाई मिले! जंम-जंम गंगा जमुना के किनारे मेरा निवास हो! इस तरह से भारतभाग्य भारत के अतीत और वर्तमान की तुलना करते हुए घोर निराशा से कटार का छाती में आघात कर लेता है। इस प्रकार भारतीयों की मृतप्राय-सी जीवन चर्या को देखकर नाटककार मानों क्रोध में भारतभाग्य का रूठा हुआ व हमेशा लिए चले जाने जैसा भाव दिखाकर नाटक को समाप्त कर देता है।

अत: 'भारत-दुर्दशा' नाटक तक आते-आते भारतेंदु पूरी तरह स्पष्ट कर देते है कि भारत की दुर्दशा के पीछे जिम्मेदार हम स्वयं है क्योंकि हमने विवेक से तो काम लेना बंद ही कर दिया है। इसलिए 'भारत-दुर्दशा' रचना की प्रासंगिकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। क्योंकि उस समय में व्यक्त समस्यायें आज भी ज्यों की त्यों हमारे समाज में विद्यमान है। आज साम्प्रदायिकता जाति, धर्म, भाषा, उच्च-नीच, क्षेत्रयीता के आधार पर पूरा देश बटा हुआ है। आज हम अनेक परम्पराओं में जकड़े हुए है। स्त्री शिक्षा, स्त्री स्वतंत्रता एवं साथ भेदभाव, महिला के प्रति पुरुष मानसिकता रूपी सोच को थोपना, कुंडली मिलान, शादी विवाह, मुहूर्त जाति और गौत्र के भीतर शादी, झाड़-फूक टोने-टोटके जैसे अंधविश्वासी घटनाएँ आज भी हमारे समाज में अंदर तक विद्यमान है। आज भी क्षेत्रवाद जातिवाद, भाई-भतीजावाद के नाम पर पूरे भारतीय समाज में भेदभाव विद्यमान है। भ्रष्टाचार का लगातार बढ़ना और अपने स्वार्थ पूरा करना तथा समाज में नैतिक-मूल्यों का दिनो-दिन लगातार घटना हमारे समाज में आज भी पूर्णत: विद्यमान है। आज की वर्तमान शासन प्रणाली में सत्ता पर बैठे ठेकेदारों को किसी भी झूठ, हानि, नुकसान की परवाह किये बिना अपना स्वार्थ पूरा करने के लिए वह अपने आप को येक-केन प्रकारेण किसी भी तरह सत्ता में बनाये रखना चाहते हैं। इन्हें न किसी समाज की चिंता और न ही किसी देश की। उनकों तो मतलब है तो सिर्फ अपनी कुर्सी अपनी ताकत से। वर्तमान समय में हम ब्रिटिश शासन से स्वतंत्र तो अवश्य हुये लेकिन बहुराष्ट्रीय रूपी विदेशी कंपनियों के जाल में दिनों दिन जकड़ते जा रहे है। हमारी किसानों की जमीने बहुत सस्ते दामों पर कंपनियों एवं सत्ता में बैठों ठेकेदारों के साढ़-गाढ़ रूपी समझाते के माध्यम से लगातार खरीदी जा रही है और हम पंगु होते जा रहे है। आज मनुष्य जाति को इस तरह का लोभ लालच दिया जा रहा है कि एक दिन वह पूरी तरह से विदेशी वस्तुओं, विदेशी मशीने, विदेशी उद्योगों पर निर्भर हो जाय। वर्तमान शासन आज अपने आप को बचाये रखने के लिए विभिन्न प्रकार के प्रदर्शन, हड़तालें, साम्प्रदायिक रूपी विद्रोह एवं अन्य किसी तरह का षड्यंत्र आदि के माध्यम से अपने आप सत्ता में बनाये रखना चाहता है, जो लगातार जारी है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि 'भारत-दुर्दशा' नाटक आज भी प्रासंगिक एवं प्रेरणादायक है। ब्रिटिश राज या भारतेंदु के समय जो समस्याएँ हमारे समाज में व्याप्त थी वो आज भी हमारे समाज में विद्यमान है। रमेश गौतम का कहना है कि भारतेंदु के दौहित्र श्री ब्रजरत्नदास ने अपने समय में 'भारत-दुर्दशा' की प्रासंगिकता सिद्ध की। वे लिखते हैं ''आज पूरे अस्सी वर्ष बाद भी प्राय: वही अवस्था है। आज भी देश शिक्षा में और देशों से पिछड़ा ही है, आलस्य, द्वारिद्रय, मदिराशक्ति आदि उसी प्रकार की है। स्वदेशी कपड़े की पुकार उसी समय इस

रूपक के पाँचवें अंक में महाराष्ट्र पात्र के द्वारा इस प्रकार की गई है- ''कपड़ा बीनने की कल मंगानी, हिंदुस्तानी कपड़ा पहिनना।'' तात्पर्य यह कि भारतेंदु जी ने इस रूपक में देश की दिखालने में पूर्ण सफलता पाई और यह नाटक सभी देश-प्रेमियों के लिए पठनीय है।''[16]

अस्तु यह कहा जाता है कि 'भारत-दुर्दशा' नाटक आज भी पूर्ण रूप से प्रासंगिक है, इसलिए यह प्रेरणादायी एवं पठनीय तथा उपयोगी है। यह नाटक छोटे-छोटे दृश्यों के माध्यमों से बड़ी-बड़ी समस्याओं को हमारे सामने प्रस्तुत करता है। इसलिए संकटग्रस्त राष्ट्र की समस्याओं को दूर करने का सुझाव देता हुआ यह नाटक भारतेंदु के सामाजिक एवं राष्ट्रीय चेतना का चित्र प्रस्तुत करता है।

संदर्भः-

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 309 / 2. रामविलास शर्मा, भारतेंदु हरिश्चंद्र और नवजागरण की समस्याएँ, पृ. 45 / 3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 316 / 4. रमेश गौतम, रंगभाषा, पृ. 246 / 5. वही पृ. 248 / 6. भारतेंदु हरिश्चंद्र कृत 'भारत-दुर्दशा' सम्पा, डॉ. मनोज कुमार गुप्ता, पृ. 51-52 / 7. वही, पृ. 53-54 / 8. वही, पृ. 55 / 9. वही, पृ. 57 / 10. वही, पृ. 60-61 / 11. वही, पृ. 64 / 12. वही, पृ. 66 / 13. वही, पृ. 68 / 14. वही, पृ. 69-70 / 15. वही, पृ. 71-72 / 16. 'भारत-दुर्दशा' : नाट्य द्वंद्वकी मौलिक संकल्पना नामक लेख से उद्धृत, पुस्तक-भारतेंदु : एक नई दृष्टि, सम्पा. लहरी राम मीना, पृ. 265

राजकुमारी मिश्र स्मृति साहित्य यात्रा सम्मान-2017

14वाँ अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी सम्मेलन, राजस्थान

पटना से प्रकाशित और चर्चित शोध पत्रिका साहित्य यात्रा ISSN 2349-1996 (संपादक-डॉ कलानाथ मिश्र) द्वारा स्व॰ राजकुमारी मिश्र की स्मृति में 14वें अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी सम्मेलन में पंजीकृत प्रतिभागी द्वारा प्रस्तुत सर्वोत्कृष्ट शोध आलेख पर लेखक को 3100 रूपये, प्रतीक चिन्ह, प्रशस्ति पत्र के साथ 'राजकुमारी मिश्र स्मृति साहित्य यात्रा सम्मान-2017 से अलंकृत किया जायेगा। चयन गठित उच्च स्तरीय समिति द्वारा किया जायेगा।

डॉ. राज किशोर पाण्डेय, पीएच. डी, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

प्राचीन भारतीय समाज में नारी (भाग-1)

डॉ. राज किशोर पाण्डेय

कालान्तर में स्त्रियों की दशा विशेष रूप से ''धर्मसूत्रें के समय कुछ निम्न हो गयी। इस न्यूनता के क्रम में सर्वप्रथम इन्हें उपनयन संस्कार से वंचित किया गया जिसके परिणाम स्वरूप समाज में इनकी अवस्था (स्थिति) शूद्रवत हो गई। नाट्यशास्त्र की भूमिका के अनुसार - स्त्रियों एवं शूद्रों को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं था। वस्तुतः इसी प्रबल हेतु के कारण ही पंचम वेद के रूप में भरत मुनि के ''नाट्यशास्त्र'' को स्वीकार किया गया।

भारतीय संस्कृति एवं भारतीय सभ्यता का जो भी विकास क्रमशः हुआ, वह ऋग्वेद काल से जन सामान्य को परिलक्षित हो पाया। यद्यपि इससे पूर्व मानव जीवन का अस्तित्व था तथापि इससे पूर्व का इतिहास पूर्ण एवं सटीक आकलन प्रस्तुत नहीं कर पाता है। इस विषय में प्राचीनतम् इतिहासविदों में मतैक्य नहीं है। जिसका गहन प्रभाव स्त्रियों के विषय में किए गए शोधों व अध्ययनों पर पड़ा। निष्कर्ष रूप में प्राचीन ऋग्वेदकालीन समाज विशुद्धरूपेण पुरुष प्रधान था। पितृसत्तात्मक था। पुंसि (पुरुष) संतति की प्राप्ति भी सविधि विवाहपूर्वक गृहस्थ जीवनयापन का हेतु था। परिवार का सर्वाधिक वयोवृद्ध पुरुष ही उस (परिवार विशेष) का मुखिया होता था। अतएव पुत्रियों की अपेक्षा पुत्रों को तत्कालीन समाज में किंचिद अधिक महत्व अवश्य ही दिया जाता रहा होगा। यूँ तो पुरुष संतति के लिए पुत्र जन्म के पूर्व देवपूजन, यज्ञादि का उल्लेख हुआ है तथापि पुत्री जन्म को अभिशाप या दुर्भाग्य नहीं माना जाता था, यह तथ्य भी प्राचीन इतिहास से स्पष्ट है।

वैदिक कालीन भारतीय संस्कृति एवम् पश्चात्वर्ती रामायण कालीन भारतीय

संस्कृति में कुछ साम्य है। वस्तुतः इस यथार्थ-निरूपण का मुख्य घटक/हेतु प्रमुख रूपेण अष्टादश पुराण हैं जिनमें केवल पुत्रों को ही पिता की अन्तेष्टि कर्म का विशेष उत्तराधिकारी माना जाता रहा है। रामायणकालीन भारत में यह परम्परा विद्यमान थी। रामायण के अयोध्याकाण्ड में इसका उल्लेख है।[1] जबकि वैदिक कालीन भारत में विशेषतया शिक्षा प्राप्ति के सम्बन्ध में ही उल्लेख मिल पाता है उनके अनुसार ''पुत्रों की तरह ही कन्याओं को भी ''गुरुकुल निवास'' विद्याध्ययन एवं उपनयन के अधिकार प्राप्त थे। कन्याएँ भी वेदाध्ययन और यज्ञानुष्ठान सम्पन्न करने की अधिकारिणी थीं। गुरुकुलीय शिक्षा प्राप्ति के अनन्तर ये भी 'पुरुष बटुकों' की भाँति ही गृहस्थ जीवन में प्रवेश से पूर्व समावर्तन संस्कार के साथ आगामी गृहस्थ जीवन में प्रवेश पाती थीं। साथ ही उन्हें भी आजीवन (अखण्ड ब्रह्मचारिणी रहने) की छूट थी। (विवाह) के विषय में उनकी रुचि अथवा इच्छा को प्रश्रय या प्राधिमानता दी जाती थी। इन्हें भी पुरुषों की भाँति, मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के, वैदिक विद्वानों की गुह्यतत्व विवेचना विषयक गोष्ठियों में न केवल आहूत किया जाता था अपितु ये वहाँ पहुँचकर गूढ़तम विषयों पर शास्त्रर्थपूर्वक सारगर्भित व्याख्यान प्रस्तुत करती थीं। ये भी पुरुषों की भाँति तेजस्वी एवं प्रखरमति से सम्पन्न होती थीं।

कालान्तर में स्त्रियों की दशा विशेष रूप से ''धर्मसूत्रें के समय कुछ निम्न हो गयी। इस न्यूनता के क्रम में सर्वप्रथम इन्हें उपनयन संस्कार से वंचित किया गया जिसके परिणाम स्वरूप समाज में इनकी अवस्था (स्थिति) शूद्रवत हो गई। नाट्यशास्त्र की भूमिका के अनुसार - स्त्रियों एवं शूद्रों को वेदाध्ययन का अधिाकार नहीं था। वस्तुतः इसी प्रबल हेतु के कारण ही पंचम वेद के रूप में भरत मुनि के ''नाट्यशास्त्र'' को स्वीकार किया गया। यह विसंगति आचार्य भरतमुनि के समय से है। ये ही छत्तीस अध्यायी नाट्यशास्त्र के आद्यप्रणेता/रचयिता हैं, मूलोवक हैं। इस काल विशेष में यदा कदा साम्य भी था इसलिए नाट्य मंचन में विशेषतया स्त्री पात्रें की भूमिका में केवल स्त्रियों को ही उस चरित्र के अभिनय का अधिकार था, पुरुष चाहते तो भी इसके लिए कथमपि उपयुक्त नहीं माने जाते थे। अतएव स्त्री व पुरुष की समानता सांस्कृतिक धरातल पर स्पष्ट ही है। प्राचीन काल से इनके कन्या, पत्नी, सौतेली पत्नी (सवति) व मातृस्वरूप आदि प्रमुखता से प्राप्त हुए हैं -

कन्या स्वरूपा

वैदिक काल से ही विशेषतया ऋग्वेद कालीन भारत के वैदिक परिवारों में भी एक असमानता अवश्य थी वह थी कन्या संतति का जन्म। निर्विवाद रूप से तत्कालीन समाज में पुत्रों की तुलना में कन्याओं का जन्म, कम प्रसन्नतादायक माना जाता था। इनके लिए न तो देवताओं की पूजा की जाती थी और न ही यज्ञानुष्ठान ही किए जाते थे। इसके विपरीत पुत्र प्राप्ति की कामना से यथा शक्य यथा साध्य अनेक धार्मिक कृत्यों को सम्पन्न किया जाता था। प्रसूतोत्तर के कृत्यों में भी असमानता थी - जैसे पुत्र जन्म के पश्चात् उत्सवादि किए जाते थे वैसे उत्सव कन्या जन्म के

उपरान्त नहीं होते थे। ऐसी उस समय विशेष की एक व्यवस्था थी। समय के साथ यह परिवर्तित भी हुआ और धीरे-धीरे स्त्रियों का स्तर पुरुषों के समान हो गया। जबकि कतिपय धार्माचार्य बिना वैदिक मन्त्रों के उच्चारण से (मूक होकर) कर्मठपूर्वक ही इन स्त्रियों के उपनयन संस्कार को सम्पन्न करा देते थे। जो एक स्वस्थ परंपरा नहीं थी। यही कारण था कि स्त्रियों के शिक्षा ग्रहण का स्तर ब्राह्मण-ग्रन्थों के काल से गिरने भी लगा, जिसका परिणाम हुआ कि स्त्रियों को कालान्तर में अग्निहोत्र एवं तर्पण के लिए अनधिकारिणी कहा जाने लगा। कुछ काल बाद इन्हें उपरियुक्त कार्यों के लिए सर्वथा अयोग्य तक बना दिया गया। अब उपनयन संस्कार केवल निमित्त मात्र हो गया जिसे स्त्रियों के विवाह संस्कार से जोड़ दिया गया जिससे अविवाहित कन्याएँ वेदाध्ययन, अग्निहोत्र व तर्पण आदि कर ही न पायें। वास्तव में यह कठोर प्रथा चलायी ही इसीलिए गयी थी।

समय के साथ-साथ इस प्रयोगात्मक प्रथा का दु:खदायी प्रतिफल हुआ कि समाज में शनै: शनै: कम आयु की कन्याओं का प्रचुर मात्रा में पाणिग्रहण संस्कार होने लगे। इससे इन कन्याओं को वेदाध्ययन आदि के अवसर ही नहीं मिलते थे। प्रकारान्तर से इनका सामान्य अध्ययन भी बाधित हो जाता था। प्राचीन भारतीय इतिहास से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल में कन्याओं के विवाह में अधिकतर शीघ्रता की जाती थी, फिर भी तत्कालीन समाज का वर-पक्ष दहेज के रूप में धनादि की माँग (याचना) नहीं करता था, विवाह के अवसर पर कन्या के माता-पिता उक्त कन्या को मात्र वस्त्रभूषण समर्पित करते थे पर धनाभाव कन्यादान में बाधक कथमपि नहीं था। इतना होने पर भी कन्याओं का जन्म अधिक अभिप्रेत नहीं था।[2]

उत्तर वैदिक काल आते-आते स्थिति में सुधार हो गया। जिसके परिणाम स्वरूप गान्धर्व विवाह की अवधारणा मन्द हो गई। किन्तु क्षत्रिय राजाओं में यह प्रथा अधिक काल पर्यन्त चलती रही। इसका एक दूसरा रूप हुआ। वह था **''स्वयंवरप्रथा प्रचलन''** इसके विपरीत रामायण कालीन भारतीय कन्याएँ अधिक सुसभ्य थीं। बालिकाएँ ही नहीं अपितु बालकों को भी अपने विवाह के संदर्भ में पूर्ण समर्थन व अधिकार या तो माता-पिता को या फिर गुरुजनों को था। ये बालक/बालिकाएँ अपने-अपने विवाह के लिए स्वयं निर्णय नहीं लेते थे। इसलिए माता-पिता जिसके साथ पुत्र/पुत्री का विवाह कर देते थे, पुत्र/पुत्री संतति इसका प्रतिषेध नहीं करते थे। रामायण के अनुसार ''पिता ही हमारे स्वामी हैं परम देवता हैं पिता मुझे जिसको भी प्रदान कर देंगे वही पति होगा।''[3]

यह स्वाभाविक था कि प्राय: हर/प्रत्येक पिता को कन्यादान के पश्चात् उसकी विदायी करके यह आशंका बनी रहती थी कि अब मेरी कन्या को दूसरे के घर में रहना है उसका इसके परघर/ससुराल पक्ष के साथ कैसा व्यवहार होगा? उन लोगों का मेरी पुत्री के साथ कैसा बर्ताव होगा? इसलिए सद्गृहस्थ चिंतित होते थे।[4] किन्तु वैदिक कालीन भारत के प्राचीन इतिहास से यह तथ्य भी उजागर होता है कि कतिपय वैदिक परिवार अपनी कन्याओं का विवाह प्राय: युवावस्था

को प्राप्त होने पर वैदिक रीति से संपन्न करवाते थे। प्राचीन वैदिक विवाह पद्धतियों में **''विवाह संस्कार''** की **''यजुर्वेदीय विवाह संस्कार पद्धति चतुर्थी कर्म सहिंता॥''** का उल्लेख मिलता है।

सूत्र ग्रन्थों में विशेषतया गृह्यसूत्र के अनुसार कम आयु में ही कन्यादान/विवाह करने वाला गृहस्थ पुण्यात्मा होता था। इसका समर्थन धार्मसूत्र भी करता है। इसके अनुसार ''गृहस्थ ऋतुमती कन्या (पुत्री) को अपने घर में अविवाहित नहीं रखे। ऋतुमती पुत्री का शीघ्र विवाह करके पतिगृह के लिए उसे भेज देना चाहिए।''[5] उस समय जब स्त्रियों के लिए उपनयन संस्कार का निषेध कर दिया गया, इस प्रथा से धीरे-धीरे न केवल कम आयु की बालिकाओं के विवाह होने लगे अपितु विषम आयु के पुरुषों के साथ भी विवाह हो जाता था। बेमेल विवाह का औचित्य, परम्परा बन गयी। विष्णुपुराण के ''अनुसार वर की आयु वधू की आयु से तीन गुना अधिक होना आवश्यक एवं उपयुक्त अवस्था मान ली जाती थी।''[6] यद्यपि यह प्रथा कथमपि न्यायसंगत नहीं थी तथापि यह अव्यवहारिक होते हुए भी तत्कालीन लोक परम्परा में विद्यमान थी। निश्चित रूप से इस व्यवस्था से तत्कालीन समाज कुप्रभावित हुआ होगा इससे अवश्य ही पीड़ित स्त्रियों के मन मस्तिष्क पर आघात पहुँचा होगा। वे स्वयं को दीन-हीन मानकर स्वयं से घृणा करती रही होगी। इसका सामाजिक पहलू भी देखें तो महिलाओं की प्रतिष्ठा न इससे केवल ध्वस्त हुई वरन् उनका इससे व्यक्तिगत गृहस्थ जीवन भी सरलता एवं सौमनस्य से दूर हो गया।

पत्नी स्वरूपा

वंश वृद्धि के सम्बन्ध में स्वाभाविक एवं नैसर्गिक रूप से देखने पर स्त्री-पुरुष दोनों का समान योगदान है किन्तु पुरुष प्रधान समाज की अवधारणा जैसी थी वह प्राचीन काल से आज तक समाज में व्याप्त है। यह जानना अत्यन्त जटिल है कि - इसका प्रमुख हेतु क्या है?यह प्राचीन काल से आज तक तथैव अनुसंधोय है। मानव समाज के स्त्री संज्ञक जितने भी सम्बन्ध या उपाधियाँ हैं उनका प्रथम व प्रमुख रूप केवल कन्या ही है। वस्तुतः कन्या संतति का विस्तृत रूप ही औपाधिक भेद व समय भेद से पत्नी और माँ के अतिरिक्त भी अनेक कौटुम्बिक सम्बन्धों में परिवर्तित होकर दृष्यमान सृष्टि में प्रकृति स्वरूपा उर्वरा शक्ति है और सदैव ही थी।

वास्तव में स्त्रियों का सब स्वरूप उपाधिभेद से कन्या संतति का प्रमुखता से पर्यायवाची ही है। इसका प्रबल आधार काल एवं काल की अधिष्ठात्री को ही स्वीकार किया जाना चाहिए, न कि किसी पुरुष विशेष को। किन्तु ऋग्वेद से पूर्व प्राचीनतम् भारतीय इतिहास यह भी इंगित करता है कि पुत्री स्वरूपा स्त्री का स्थान प्रमुख नहीं अपितु गौण था। इसका कारण कालावधि या अवस्था विशेष तो समीचीन हो सकता है किन्तु प्राचीन कालीन नारी जाति इसका हेतु कदापि नहीं हो सकती। कारण यह है कि पुरुषों की अवधारणाओं या भिन्न मानसिकता को केवल स्त्रियों के लिए मानदण्ड की मुख्य कसौटी मान लेना न्यायोचित नहीं है। पुत्री ही तो पत्नी, माँ, दादी, नानी आदि एक लघु अन्तराल के पश्चात् उपाधियाँ प्राप्त करती है, फिर असमानता क्यों?यही विचारणीय है।

क्या अब तक इसका कोई सर्वमान्य व प्रामाणिक निराकरण मिल पाया है?

ऋग्वेद कालीन भारत में स्त्रियों का स्थान अतिपूर्व की अपेक्षा किंचिद उच्च था। इनका सम्मान था। स्त्रियों को कहीं गृह/घर और कहीं घर की सम्राज्ञी कहा गया है। यदि पति को स्वामी तो पत्नी को स्वामिनी कहा गया है ऐसा केवल स्त्री-पुरुष की समानता के कारण था। ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार स्त्रियों को पुरुषों का पूरक कहा गया है। जबकि ''ऐतरेय ब्राह्मण'' के समय में 'स्त्री तो जन्मदात्री है' वही तो पुरुष की अर्धांगिनी है'' ऐसा कहकर इनकी प्रतिष्ठा को बढ़ाया गया है। ''वैदिककालीन भारत में स्त्रियों और पुरुषों को समान आदर दिया जाता था, जिसके मूल में एक वैदिक धारणा थी वह प्रमुख हेतु तब था आज भी है जिसका निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक आर्य (व्यक्ति) जन्म से ही देवताओं व पितरों तथा ऋषियों का ऋणी होता है जिसे हर व्यक्ति को चुकाना ही है। इसका स्वरूप था देव ऋण के लिए (यज्ञ में सपत्नीक आहुति प्रदान करके) पितरों के निमित्त/''पितृ ऋण'' के लिए ''मुक्तिप्राप्त्यर्थ'' पितरों की सविधि और दैहिक क्रियाओं से निवृत्ति पूर्वक पिण्डदान एवं तर्पणादि करके/''ऋषि ऋण'' के लिए विद्यादान, अन्तेवासिन बटुकों की भोजन वस्त्रदि करके/उक्त ऋणों से विमुक्ति का वैदिक प्रयोजन बताया गया है। इसमें प्रथम दो ऋणों के लिए पत्नी का सहयोग अनिवार्य था।[7] वस्तुतः इसलिए भी पत्नी को ''सहधर्मचारिणी'' कहा जाने लगा। ये स्वयं भी पुरुष की अनुपस्थिति में वैदिक मन्त्रोच्चारपूर्वक यज्ञ करती थीं।

स्त्रियाँ अपने पति की दीर्घायु की कामना से ''महामृत्युंजय महामन्त्र के जाप का अनुष्ठान करती थीं। यह परंपरा रामायण कालीन भारत में दृष्टिगोचर होती है। यही कारण था कि स्वयं राम ने सीता की अनुपस्थिति में सीता की सुवर्णमयी प्रतिमा/प्रतिकृति को ही अपने यज्ञ की ''यज्ञ सहधार्मिणी'' बनाया और वैदिक मान्यताओं एवं परंपराओं का सविधि निर्वहन भी किया। स्त्रियों के उपस्थित न हो पाने या उसकी मृत्यु के पश्चात् शीघ्र विवाह करने का विधान भी याज्ञवल्क्य को अभिप्रेत था।[8] गृहस्थ आश्रम में आकर पुरुष, संतति की प्रबलेच्छा से विवाह करते थे और इसी कामना से ''वैदिक देवताओं के यज्ञानुष्ठानादि भी सम्पन्न किए जाते थे। इसके पश्चात् देवों से पुत्र प्राप्त्यर्थ प्रार्थना भी की जाती थी। श्रुतियों में पुत्र को अपना ही स्वरूप कहा गया है। इसलिए अपने वंशवृद्धि के द्वारा सद्गृहस्थ पितृऋण से मुक्त होते थे। ''मनु'' के अनुसार ''जाया'' वही स्त्री हो सकती थी जो किसी संतति को जन्म दे दे। नैसर्गिक प्रक्रिया स्वीकार की जाती थी कि इसे पुरुष (पति) ही सर्वप्रथम अपनी भार्या के गर्भ रूप में, आकर यथा समय शिशु रूप में उसी का जन्म होता है। इस शिशु की जन्मदात्री केवल जाया ही है।[9] इसके पश्चात मनु ने इसी संदर्भ में गृहस्थाश्रम की उपादेयता को उपदेशित किया है, जो पत्नी के बिना संभव ही नहीं है। यही गृहस्थाश्रम ही अन्य तीनों आश्रमों से श्रेष्ठ है। यही अन्य तीनों ही आश्रमों का आधार है। इसलिए प्राचीन काल से आज तक विवाह संस्कार के अंगभूत स्वरूप में यथोचित सम्मान स्त्रियों को दिया जाता रहा है - यथा - वाग्दान, गोदान, परस्परावलोकन, अश्मारोहण, दिवालग्ने सूर्य दर्शनम् वा रात्रैलग्ने

ध्रुवतारावलोकनम्, व आशीर्वचन, गोत्रोच्चार, सप्तपदी आदि अनेक सत्रों में/विधियों में ही नहीं अपितु अन्य प्रधान अप्रधान पूजा में भी इन्हें समान रूप से सहधर्मिणी व सहयोगी बनाया जाता था। वह परंपरा आज भी है।

वस्तुतः गृहस्थ के लिए प्राचीन काल से ही स्त्रियों की उपस्थिति को एक प्रकार से संजीवनी शक्ति प्रदात्री के रूप में मान्यता प्रदान की जाती रही है। ''आपस्तम्ब धर्मसूत्र'' के वचनों से सुस्पष्ट है कि गृहस्थाश्रम संचालन में पत्नी व पति के बीच में कोई विभाजन नहीं था, अपितु दाम्पत्य सूत्र में एक बार बँध जाने के पश्चात् ये सभी कर्म/अनुष्ठान आदि एक साथ ही सम्पन्न करते थे। गृहस्थ आश्रम एक संयुक्त व्यवसाय के समान था।[10]

बहुपति एवं बहुपत्नी प्रथा

वैदिक वांग्मय में ऐसे उल्लेख हैं कि एक ही स्त्री एक से अधिक पुरुषों से विवाह कर लेती थी। ऋग्वेद के अनुसार सूर्य ने जुड़वा अश्विनी कुमारों के साथ विवाह किया था, जबकि ऐतरेय ब्राह्मण में इसका कठोरतापूर्वक निषेध किया गया है। फिर भी वैदिक कालीन भारत में बहुपति प्रथा संदिग्ध प्रतीत होती है। कतिपय इतिहासकारों के मत में ''महाभारत में द्रौपदी के प्रसंग को इसका प्रबल अपवाद कहा जाना न तो उचित था और न है। इसके साथ-साथ एक पत्नी व्रत साधारण अवस्था में ही रहा हो, किन्तु इसकी अनिवार्य मान्यता को अस्वीकार कथमपि नहीं किया जाना चाहिए। इसलिए प्राचीन धर्मशास्त्रकारों में बहुपति प्रथा के विषय में मतभेद है। उनमें अधिकतर आचार्यगण इसे वेद के प्रतिकूल ही नहीं अपितु इसको लोकाचार/लोक परंपराओं के विरुद्ध एक गर्हित कृत्य मानकर इसका पुरजोर विरोध भी करते हैं। प्राचीन भारत के वैदिक कालीन साहित्यों में विशेष रूप से ऋग्वेद ही अति प्राचीन है उसमें विवाह के संदर्भ में उल्लेख किया गया है। आठ प्रकार के विवाह विधियों में आरम्भ के तीन - ब्राह्म, देव एवं प्राजापत्य ही प्राचीन धर्मशास्त्रकारों को अभिप्रेत थे। उसमें से ब्राह्म विवाह द्विजों में आज भी प्रचलित है।

ब्राह्म विवाह के अन्तर्गत वाग्दान (संकल्पपूर्वक कन्यादान) एवं गोत्रोच्चार तथा सप्तपदी प्रमुख कृत्य हैं। इसे विवाह पद्धति के तदनुरूप आज भी सम्पन्न किया व कराया जाता है। सप्तपदी के समय कन्या के सातों वचनों एवं वर के पाँचों वचनों को सविधि सुनाया जाता है। इन वचनों के अनुपालन मात्र से ही केवल विशेष परिस्थितियों को छोड़कर न तो पति ही एक से अधिक पत्नियों को अपना सकता है और न ही पत्नी ही बहुत पतियों वाली बन सकती है। यही बहुपत्नी प्रथा का प्रचलन समाज में संक्रामक/छुआछूत रोग सदृश्य तब विस्तार को प्राप्त हुआ, जब सीमाएँ बन गयीं, राज्य बने राजा बनने लगे।

पुरा वैदिककाल से वैदिककाल की परिसमाप्ति तक ऐसी अवधारणाओं को सामाजिक मान्यताएँ भी मिल जाती थीं, यह कहना सर्वथा न्यायसंगत नहीं हो सकता किन्तु महाभारत के

समय में भारतवर्ष में ऐसा हुआ है कह सकते हैं। इन्हें धर्माचार्यों ने विशिष्ट घटनाओं के रूप में निरूपित किए हैं। इसके कुछ कारण थे - युद्ध हुआ एक राजा ने आक्रमणपूर्वक विरोधी/पड़ोसी राजा को परास्त कर दिया तब विजय के अहंकार में विजित राजाओं की पत्नियों को बन्दी बनाकर अपने राज्य में ले आते थे। उन्हें मात्र भौतिक वस्तु मानकर इनका उपभोग करते थे। इनके साथ दास-दासियों को भी लाते थे। किन्तु ये शास्त्रसम्मत प्रथा नहीं थी। ''विष्णु धार्म सूत्र'' के अनुसार ''किसी भी द्विज की शूद्रा भार्या धार्मिक कार्यों में अमुक द्विज की सहधर्मिणी हो ही नहीं सकती थी इसके अतिरिक्त उसके साथ सहवास कर्ता पुरुष को रागान्ध/कामान्ध ही जानना चाहिए।''[11] प्राचीन काल से ही गृहस्थ आश्रम में पहुँचे हुए द्विजों में एक प्रबल उत्कण्ठा रहती थी कि ''संतान प्राप्ति आवश्यक है, इसलिए यदि एक पत्नी से संतति प्राप्ति न हो पायी तो भी दूसरी पत्नी से इस अभाव की संपूर्ति हेतु सम्बन्ध रख लेते थे। इस कुरीति से शासक वर्ग/राजा लोग सर्वाधिक प्रभावित थे।

धार्मशास्त्र के इतिहास से यह स्पष्ट है कि कतिपय राजाओं के चार पत्नियों का पति होने पर भी उनका समाज में आदर कम नहीं होता था लेकिन पूर्व की अभिषिक्ता/व्याहिता पत्नी ही राजमाहिषी/पटरानी कही जाती थी। बाद में वही बड़ी रानी, फिर रानी साहिबा, राजमाता आदि कहलाती थी। ये सब आयुगत या अवस्था विशेष जन्य उपाधियाँ थीं। वैदिक भारत में यदा-कदा बहुपत्नी प्रथा का उदय बहुत बाद में हुआ होगा ऐसा प्रतीत होता है। इसकी जड़ में समृद्धि (भौतिक सुखों) का सहज सुलभ साधन भी थे। तत्कालीन धर्मज्ञ इससे बचते थे। किन्तु राजाओं में, राज्याश्रित राजनयिकों, प्रधानमन्त्रियों व अन्य मन्त्रिगणों में यह एक उच्चवर्गीय परंपरा बन गयी थी।

पुराणकालीन भारत में यद्यपि इस बहुपत्नी प्रथा को अधिक प्रश्रय मिला तथापि मनु आदि धर्माचार्यों ने यह कहकर इसकी निंदा की है कि ''द्विजों की शूद्र पत्नी न तो स्वयं धर्म कार्यों में पति का सहयोग कर सकती है, और न ही उससे उत्पन्न पुत्र ही अपने द्विज पिता की और्ध्वदैहिक क्रियाओं के द्वारा 'पितृऋण' से उसे मुक्त कराने में समर्थ होगा। साधारणतया इस तथ्य को पौराणिक काल से विभिन्न पुराणों के 'उद्धरणों' से अधिक मान्यता प्राप्त हुई। किन्तु इसका बीजारोपण वैदिक काल से पूर्व का प्रतीत होता है। पुराणों में 'स्कन्दपुराण' आकार प्रकार व विषयवस्तु की दृष्टि से भी अन्य प्रमुख पुराणों से अधिक विस्तृत है। इसके अनुसार ''गतात्मा की प्रेतत्व से विमुक्ति तभी हो पाती है, जबकि उसकी सविधि 'और्ध्वदैहिक' क्रियाओं के साथ अन्य पिण्डोदक क्रिया, जलांजलि/तिलांजलि आदि क्रियाएं भी की जायें। ये पार्वणश्राद्ध एवं सारोद्धारपूर्वक विधिवत् सम्पन्न हों इसके पश्चात् ही वह जीवात्मा परलोक/पितृलोक जायेगी। इसके पूर्व नहीं। इसका कर्ता आत्मज/पुत्र/पौत्र अथवा पुत्री का पुत्र हो, कोई और नहीं, इसलिए पुत्र अथवा पुरुष संतति की प्राप्ति को बहुपत्नी प्रचलन का प्रबल हेतु धर्माचार्यों के द्वारा स्वीकार किया गया। ऐसे अनेक प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष कारण थे जिससे प्राचीन भारतीय समाज में बहुपत्नी प्रथा न केवल व्यवहार में आयी, अपितु यह प्रथा धीरे-धीरे शास्त्र सम्मत जैसी भी हो गयी। इतना सही है कि इसका कोई एक प्रमुख कारण नहीं था। इसके अतिरिक्त भारतीय समाज का जो उत्तरोत्तर

विकास हुआ उसका प्रभाव भी नारी जीवन पर पड़ना स्वाभाविक था। उसका निरूपण क्रमश अगले निबन्ध में किया जायेगा।

संदर्भ ग्रन्थ

1. पुन्नाम्नः नरकाद्यस्मात्पितरं त्रायते सुतः। रा.अयो. 2/20-13
2. The Position of Women in Hindu Civilization, p. 4.
3. पिता हि प्रभुस्माकमं दैवतं परमं च सः। यस्य नो दास्यति पिता स नो भर्ता भविष्यति।। रा. बा. 32/22
4. मातुः कुलं पितृ कुलं यत्र चैव न दीयते। कुलत्रयं सदा कन्या संशयेस्थाप्य तिष्ठति।। वही उत्तर 9/10
5. प्रयच्छेन्नाग्निकां कन्यामृतुकालभयात्पिताः। ऋतुमत्या हि तिष्ठन्त्या दोषः पितरमृच्छति ।।0।। वसिष्ठ धा.सू. 17/62
6. वर्षेरेकं गुणां भार्यामुद्वहेत त्रिगुणः स्वयम्। विष्णु पुराण - 3/10/16
7. जायमानो ह वै ब्राह्मणास्त्रिभिर्ऋणवाँ, जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष वा, अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी। तैत्तरीय सं. 5/13; 10/5
8. दायि त्वाग्निहोत्रेण स्त्रियं वृत्तवती पतिः। आहारो विधिवद दारानग्नीश्चैवाविलम्बयन्।। याज्ञवल्क्य स्मृति 1/66
9. पतिभार्या संप्रविश्य गर्भोभूत्वेह जायते। जायाया स्तद्वि जायात्वंमदस्यां जायते पुनः।। मनुस्मृति 9/8
10. The theory approved by the Hindu culture as early as the Vedic age was that the husband and the wife should be the joint owners of the household and its property. A.S. Altekar the Position of Women in Hindu Civilization, p. 214
11. द्विजस्य शूद्रा भार्या तु धार्मार्थं न क्वचिदभवेत। रत्यर्थमेवसा तस्य रागान्धस्य प्रकीर्तिता ।।0।। विष्णुधर्म सूत्र 26

निदेशक – के.के. बिड़ला फाउन्डेशन, नई दिल्ली।
"प्रस्तुति – चरणजीत सिंह सचदेव"
एसोसिएट प्रोफेसर खालसा कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

हिन्दी का वैश्विक परिदृश्य

प्रो. सुरेश ऋतुपर्ण

भारत का परिदृश्य बदल रहा हैं जैसे-जैसे भारत एक बड़ी आर्थिक शक्ति के रूप में एक राजनैतिक शक्ति के रूप में उभर रहा हैं तो दुनिया के सभी देशों को ये लगने लगा हैं कि यदि हमें भारत की करोड़ो करोड़ जनता से जुड़ना हैं उनके साथ व्यापार करना हैं उनके साथ कूट नीतिक सम्बंध बनाने हैं तो हिंदी एक बड़ी भूमिका निभाएगी।

हिंदी का वैश्विक परिदृश्य ये आज कल बहुत चलने वाला विषय हैं हर बार इन गोष्ठियों में ये विषय देखने को मिलेगा और बहुत बार मैंने बहुत सारे लोगो को ये कहते हुए सुना हैं कि आज हिंदी हिन्दुतान से बाहर की सरहद पार करके नजाने कितने देशो में बोली जा रही हैं, समझी जा रही हैं और उस सब को सुन करके लोगो के मनो में ये बात जमने लगी कि जैसे कि ? वो किसी हवाई अड्डे पर उतरेंगे और जब बाहर निकलेंगे तो वह खड़े लोग उनका नमस्ते-नमस्कार कह करके उनका हार्दिक स्वागत करेंगे और हिंदी में बोलने लगेंगे की आईये जी टेक्सी तैयार खड़ी हुई हैं, बन्धु ऐसा नही हैं जब हम कहते की हिंदी का वैश्विक परिदृश्य बदल रहा हैं इसका मतलब वस्तुतः ये हैं कि भारत का परिदृश्य बदल रहा हैं जैसे-जैसे भारत एक बड़ी आर्थिक शक्ति के रूप में एक राजनैतिक शक्ति के रूप में उभर रहा हैं तो दुनिया के सभी देशों को ये लगने लगा हैं कि यदि हमें भारत की करोड़ो करोड़ जनता से जुड़ना हैं उनके साथ व्यापार करना हैं उनके साथ कूट नीतिक सम्बंध बनाने हैं तो हिंदी एक बड़ी भूमिका निभाएगी कम से कम मैं अपने सभी प्रिये छात्रों को ये बताना चाहता हूँ कि वे हिंदी के बढ़ते हुए महत्व को इस संदर्भ में पहचानने की कोशिश करे यूं हिंदी

का जो वैश्विक परिदृश्य हैं उसका इतिहास बहुत लम्बा हैं शायद आज इतना समय भी नहीं हैं कि मैं उस सब की डिटेल्स मैं आपके सामने चाहू अगर मैं उसपर बात करना शुरू करूँ तो लगभग डेढ़-दो घण्टे तक मैं आपको समझा सकता हूँ कि हिंदी का ये वैश्विक परिदृश्य जिसकी हम चर्चा करते हैं वो बना कैसे हैं शायद आप में से कुछ लोगो को मालूम होगा कि जब भारत में अंग्रेजी सरकार थी ईस्ट इंडिया कंपनी काम कर रही थी और दुनिया के अंदर काले जो हैं गुलामो का व्यापर होता था तो सन् 1834 के अंदर दास प्रथा समाप्त कर दी गयी और सारे जो गुलाम लोग चारो तरफ अंग्रेजी उपनिवेशो में काम करते थे उन्होंने कहा कि अब हम काम नही करेंगे तो अरबो रुपए का जो चीनी का व्यापार था, कृषि का व्यापार था ब्रिटिश उपनिवेशवादियो का वो सब खत्म होने लगा तो इन लोगो ने धरुवीय सँधि करके भारत से मजदूरों को बुलाने का प्रयास शुरू किया । सन् 1835 के अंदर मॉरीशस में सबसे पहले एक जथा पहुँचा और वे अपनी पोटलियों में रामायण की पोथी बाँध कर ले गए आल्हा उदल ले गए पखावण सारंगा ले गए किस्सा तोता मैंना ले गए और इस तरह से हिंदी हिंदुस्तान की सरहदो से बाहर दूर देशो में सात समंदर पार करके पहली बार पहुँची जिस वैश्विक परिदृश्य की हम बात करते हैं वो कैसे शुरू हुआ इसका संकेत भर मैंने आपसे किया हैं लेकिन लोगो के दिन बहुत कठिन दिन थे वहां पर बड़े तकलीफो के दिन थे उनको दो मार पढ़ती थी एक तो जो अंग्रेज ले गए वो मारते थे उन्हें खेतों में काम करवाने के लिए और वो काले लोग जो विजातीय थे अफ्रीका से आये थे वे बिचारे ये समझते थे कि इन बाहर मजदूरो ने आकर उनका काम और चौपट कर दिया वो क्या करे ? तो इन लोगो को दोहरी मार पढ़ती थी तो अपने संस्कारो को अपनी संस्कृति को बचाने का संकट भी इन लोगो के सामने था तो आप देखिये कि एक तरफ आर्थिक मार पढ़ती थी काम की मार पढ़ती थी और संस्कृति के ऊपर मार पढ़ती थी तो इन लोगो के सामने बढे संकट के दिन थे और संकट के अंदर हमारे बाबा तुलसी दास उनके बहुत काम आये और हमेशा रामायण की पंक्तियाँ पढ़ कर के बड़ी सांत्वना उनको मिलती थी..

होइ हैं सोहि जो राम रचि राखा

और वो सोचते थे कि जैसे राम को वनवास मिला ऐसे को भी वनवास मिला जैसे राम जंगल में गये सीता को रावण चुरा ले गया ऐसे ही ये अंग्रेज कोलम्बस का लंबा राज हैं ये हमारे प्लांटर हैं ये हमारी बेटियो को बहुओं को उठा करके ले जाते हैं उन सारे कष्टो से कैसे निजाद मिले तो राम का वनवास इनके लिए अपना भी वनवास था और उसकी कहानी कह कर के इन लोगो ने अपने अंदर एक शक्ति का संचार किया और जीवित रहे लगातार। अब मैं कुछ बहुत सारी पॉजिटिव बाते भी बताना चाहूंगा कि ये रामायण जो हैं इनके लिये कितनी महत्वपूर्ण थी और इसका कैसे उन्होंने उपयोग किया इसके एक दो उदहारण मैं आपको जल्दी जल्दी दूंगा समय कम हैं और हमारे आदरणीय हरीश नवल जी भी यहाँ मौजूद हैं और उनको भी बहुत कुछ कहना होगा।

जब पुराने जत्थे गए इन देशों में तो ये किसी भी जन जाती के लोग थे और जब ये जहाज में चढाये गये जबरदस्ती इनको नही मालूम कि कहा जा रहे हैं इनसे कहा गया था कि अरे वो गंगा सागर हैं न कलकत्ते से थोड़ा सा आगे तीर्थ यात्रा करना और लौट आना और पत्थर को उठाओगे तो सोने की गिन्नी मिलेगी और हमारे भोले भाले किसान उनके साथ हो लिए और जब समुन्दर में चलते चलते तों बीत जाते थे और वो काले पानी की यात्रा खत्म नही होती थी तो ये लोग चिल्लाते

थे कि ये हमे कहां ले जा रहे हो तो किसी एक को उठा कर समुन्द्र में फेंक दिया जाता था और बाकी के सब लोग वैसे ही शांत हो जाते थे जैसे उबलते हुए दूध में आप पानी डाल देते हैं और जब ये लोग पहुचते थे इन अंजान जगहों पर तब ये क्या करे इन लोगो का आपसी सम्बन्ध जो बना उसमे एक शब्द आया जहाजी भाई सारे जाति के बंधन टूट गए कौन क्या हैं क्या करता हैं इस सबसे अलग वे सारे के सारे लोग अब जहाजी भाई थे तो फिजी के अंदर एक ग्रुप उतरा था इसके अंदर एक युवा लड़की थी और भी दम्पत्ती थे और लोग थे बड़े बुजुर्ग थे तो कुछ दिनों के बाद जो कॉलोनियों में जहाँ रहते थे वहाँ एक लड़की और एक लड़के के बीच थोड़ा प्रेम का सा भाव बुजुर्ग लोगो ने देखा तो उन्होंने आपस में चर्चा की भाई ये तो ठीक नही हैं कुछ ठीक ठाक हो जाना चाहिए तो उन्होंने कहा कि इनसे पूछे कि ये विवाह करना चाहेगे तो उन लोगो ने सहमति प्रकट कर दी तो अब हुआ कि इन दोनों का विवाह कर दिया जाना चाहिए लेकिन इससे पहले विवाह कैसे होते थे वहा क्या था इसका कुछ नहीं मालूम जो लोग गये थे जहाजी भाई उनमे से कौन पंडित गया था जो विवाह करायेगा तो ये थोड़ी सी समस्या शुरू हुई तो उनमें से एक राम सूचित महाराज थे जिनके परपोते हमारे हिन्दू कॉलेज में पढ़ने आये जिन्होंने मुझे ये कहानी सुनाई थी तो वो उन्होंने कहा कि ठीक हैं पण्डित जी से कहते हैं ये देखो कुछ करा देंगे तो पण्डित जी से कहा गया कि कल इन बच्चों का विवाह कराना हैं अच्छा तो करा देंगे तो वो रात भर सोचते रहे कि मुझे तो एक भी मन्त्र आता तो क्या करे साड़ी रंगनी हैं पीले रंग का होंना चाहिए तो हल्दी-वल्दी घोल कर पीली साड़ी बना ली गयी लड़की को पहना दी गयी कुछ फूल पत्ती तोड़ करके थोड़ा सा सहरा बना दिया गया हवन कुंड बना लिया गया अब पंडित जी वहाँ आ करके बैठ गए थे तो उन्होंने क्या कहा उन्होंने कहा कि देखो भाई हमारे रामचरितमानस के अंदर राम-सीता के विवाह का प्रसंग हैं उससे अच्छा प्रसंग और कोई हो नही सकता मैं इन दोनों का विवाह राम सीता प्रसंग से जुड़ी हुई चौपाइयों को पढ़ कर कराऊंगा और इस तरह से उस रामायण ने उस समय में उनकी मदद की और वो चौपाइयां पढ़ करके उन दोनों का विवाह हो गया और वो आजन्म सुखी रहे।

एक दूसरी घटना मैंने फिजी में देखी जब मैं सन् 1982 में वहां गया वहाँ बहुत सारे सत्संग होते थे रामायण को ले करके और रामायण के सत्संग के बाद में जब प्रसाद बँटता हैं उससे पहले जयकारे लगते हैं आप लोग भी सत्संग करते हैं तो रामचन्द जी की जय हनुमान जी की जय और सनातन धर्म की जय ऐसे नारे यहाँ भी लगाये जाते हैं फिजी में एक नारा लगता था और वो अंत में लगता था सबसे आखरी में और वो नारा होता था रामायण महारानी की जय क्या आप लोगो ने कही ऐसा नारा कही सुना हैं? हमारे देश में तो रामायण बहुत प्रचलित हैं लेकिन उसको महारानी का दर्जा किसी ने नहीं दिया लेकिन फिजी में जहाजी भाईयो ने रामायण को महारानी का दर्जा दिया क्यों दिया मैं सोचता रहा कि क्यों इनके मन में ये मानवीय करण करने की भावना क्यों आयी तो जब में पुराने कागज टटोल रहा था तो मुझे पता चला कि फिजी के अंदर प्रवासी भाइयो का जो ग्रुप हैं वो सबसे बाद में गया हैं और तब तक क्वीन विक्टोरिया ने पूरा राज अपने हाथ में ले लिया था ईस्ट इंडिया कंपनी तब तक खत्म हो गयी और क्वीन विक्टोरिया के नीचे आ गये थे सारे लोग होनहार मजेस्टि सर्विस हो गए तो फिजी में जब लोग गये थे तो वो सब महारानी के दास थे सब काम उनका महारानी करती थी लेकिन उन लोगों ने अपना विरोध जताने के लिए कहा कि क्वीन

विक्टोरिया होगी तुम्हारी महारानी हमारी महारानी तो हमारी रामायण हैं और इस तरह से कहकर के इन लोगो ने उन लोगो के सामने अपना पक्ष रखा और उसपर हमेशा दृढ़ बने रहे ऐसी अनेक चीजों मुझे त्रिनाद पर भी मिली मैं चार साल वह रहा और किस तरह उन्होंने अपनी भारतीय संस्कृति को बचाये रखा हैं हरीश जी भी वहाँ कुछ दिनों के लिए गये थे उन्होंने वही देखा वहां पर हिंदी पढ़ने के लिए कोई तैयार नही था और जो क्रिस्तान स्कूलों में पढ़ने के लिए कोई तैयार नहीं था क्रिस्तान मिसिंरी वह जाते थे और वो जोर्न मार्टन अपने चर्च में बैठे रहते थे कोई कुली का बच्चा कोई किसान का बच्चा उनसे पढ़ने के लिए नही आता था कि आप हमें क्रिस्ता बनाआगे हम नही आते और उनको क्रिस्तान मिशन की तरफ से मार पढ़ती थी कि तुम वहां बैठे कर क्या रहे हो एक भी बच्चे को तुमने अभी तक क्रिस्तान नही बनाया हैं तो वो लोग फिर हाथ जोड़ते हुए इन कॉलोनी में जाते थे और उन किसानों से कहते थे कि भईया तुम्हारे बच्चे पढ़ जाएगे हमारे यहाँ भेज दो, तो वह कहते की नही हमे अपने बच्चो को क्रिस्तन नही बनाना अनपढ़ रहे कोई बात नही पर अपनी संस्कृति नही छोड़ेंगे तब जोर्न मार्टन ने कहा कि देखो तुम्हारे बच्चे पढ़ जाएंगे और मुझे डंडे पड़ने बन्द हो जाएंगे तुम अपने बच्चों को भेज दो उन्हें कोई क्रिस्तान नही बनायेगा सिर्फ अपना नाम थोड़ा सा बदल दो । सिर्फ रजिस्टर में नाम बदलेंगा और कुछ मुझे नही करना हैं, तो गांव के बड़े बूढ़ो ने मीटिंग की और उन्होंने कहा कि भाई जब ये कह रहा हैं और हमारे बच्चो को पढ़ाई लिखायी का मौका मिल रहा हैं तो चलो भेज देते हैं वहां पर नजाने कितने नाम मिलेंगे ऐसे जिनके मैं कुछ उदहारण देता हूँ -

विस्टर्न तुकरन-दुखहरन तुकरन हो गया

ब्लेंडा सावित्रे महाराज,सावित्रे महाराज लेकिन ब्लेंडा.. एक थे राल महाराज राल पहले लग गया..

ऐसे अनेक नाम वहां मुझे जब मिलते थे तो मैं बड़ा परेशान कि घर के अंदर तो हनुमान जी की चालीसा पढ़ रहे हैं और सब कुछ कर रहे हैं और नाम उनके आधे क्रिस्तान और आधे हिन्दू तब जा करके मुझे पता चला की लोगो ने अपना धर्म नही छोड़ा और शिक्षा प्राप्त करने के लिए अपना नाम थोड़ा बदल लिया।

तो इस तरह से वहां पर उन लोगो ने अपनी पढ़ाई लिखायी की और बाद में वो कनाडा, अमरीका, लन्दन, भारत पढ़ने आते थे और त्रिनाडी के वो सबसे सम्भ्रांत बड़े लोगो के अंदर से आज भी माने जाते हैं। तो उस देश में धीरे धीरे क्या हुआ कि जब अंग्रेज देश आजाद करके लोटे तो उन्होंने जो पावर थी वो ब्लैक लोगो के हाथों में दे दी और उन लोगों ने धीरे धीरे से हिंदी कैरिकुलम जो था उसको निकाल दिया उसको जब निकाल दिया तो हिंदी पढ़ने की सभी सुविधाएँ वहा खत्म हो गयी और धीरे धीरे हिंदी बोलना खत्म हो गया अब वह गिने चुने कुछ 400-500 पुराने लोग हो सकते हैं , 200-400 कुछ नए युवा हो सकते हैं जो अच्छी हिंदी जानते हैं सामान्यत: वह हिंदी नही जानते लेकिन हिंदी की भारतीयता, संस्कार उनके मनो में बहुत गहरे तक बसा हुआ हैं और जब उनके हाथ से भाषा छूट गयी तो उन्होंने संस्कृति को बहुत कस कर पकड़ लिया कि इसको नही जाने देंगे तो अंग्रेजी के माध्यम से उनके बहुत सारे रिचुअल होते हैं रामायण की कथा होती हैं

और पूजा पाठ होते हैं लेकिन वे उस भारतीय संस्कृति को नही भूल पाये हैं और उससे जुड़े हुए राम कथा, राम लीला, दशहरा मनाते हैं रावण भी जलाते हैं, रामलीला करते हैं, होली मनाते हैं, दिवाली मनाते हैं, कृष्ण जनमाष्टमी मनाते हैं, सारे त्यौहार इतनी रौनक के साथ मनाये जाते हैं कि अगर आप वहाँ पहुँच जाएँ तो उन गांवो में उन शहरों आपको ये पता भी नही लगेगा कि आप भारत से बाहर कही बैठे हुए हैं जहाँ पर ये भारतीय संस्कृति के अनेक दृश्य देखने को मिल रहे हैं और देखिये की बहुत बार चीजे नही होती हैं तो उनका विकल्प कैसे खोजा जाता हैं ये भी बड़ा वहां मुझे एक मजेदार वाक्या देखने में आया। वहां पर फगवा बोलते हैं होली के लिए, फगवा के दिन हमको और हमारे अम्बेस्डर को बुलाया गया हम वहां गये मिलने के लिए तो हजार लोगो की भीड़ फगवा के अंदर गाने गा रही हैं गीत गा रही हैं –

आज अवध में होली खेले रे रघुवीरा

वहां पर अवध में रघुवीर होली खेल रहे हैं वहां पर कही मुझे राधा कृष्ण का नाम नही मिला क्योंकि ये सारे जहाजी भाई थे ये लोग पूर्वी उत्तर प्रदेश बिहार से गए थे इसलिए इनके आराध्य राम हैं इसलिए राम सीता होली खेल सकते हैं, राधा कृष्ण वहां होली नहीं खेलते सामान्यत: इसलिए वहां जो चौताल सिंगिंग जो होती हैं लगातार महीनो तक चलती रहती हैं उसके अंदर सारे अवध से जूड़े हुए जो हमारे लोक गीत हैं उनको वो गाते हैं और वो बहुत तेज म्यूजिक के साथ उनको गाते हैं इसलिए उसको चौताल सिंगिंग कहते हैं और उसमें बड़े बड़े नाम दिए जाते हैं जो ग्रुप इसमें बहुत अच्छा अच्छा करते हैं तो हम लोगो को जिस कार्यक्रम में बुलाया गया हैं वहां हजारो लोग मैंदानों में खड़े हुए हैं दो बड़े बड़े तीन तीन ट्रेलर जोड़कर उनका स्टेज बना दिया गया उसपर चौताल सिंगिंग चल रहा हैं जिसको पुरस्कार मिलना हैं हमारे अम्बेस्डर को पुरस्कार देने हैं और जब हम वहां गये तो वहां के आयोजक हमसे आकर गले मिले और गले मिलने के बाद बोले डॉ० ऋतुपर्ण जस्ट स्टॉप फॉर वन मिनट और उन्होंने अपनी जेब से एक डब्बा निकाला हाथ पर डाला और मेरे मुंह पर लगाया मैंने सोचा गुलाल लगा रहे होंगे लेकिन वो जॉनसन बेबी पाउडर था गुलाल मिलता नही भारत से मंगवाया होगा सारा उनका गाल छिल गया नकली चला गया होगा तो उन्होंने सोचा नही मंगाना अब उसका क्या करे तो वो सफेद रंग का जॉनसन बेबी पाउडर लगाने लगे सारा मुँह उन्होंने सफेद कर दिया अम्बेस्डर साहब का मूँह सफेद कर दिया मैं उनको देखूं तो मैं हंसू वो मुझे देखे तो वो हँसे हम लोग सफेद भूत हो गए थे तो यही से आप देखिये कि कल्चर का संस्कृति का कितना बड़ा योगदान हैं न सही गुलाल लेकिन गले तो मिल रहे हैं हम एक दूसरे के मुँह पर अबीर न लगा रहे हैं लेकिन कोई खुशबूदार पाउडर तो लगा रहे हैं ये जो सारी चीजे हैं ये भारतीय संस्कृति की एक बहुत बड़ी ताकत हैं जो इन देशों में हमे देखने को मिलती हैं और बड़े मनोरंजक प्रोग्राम आते थे वहां रेडियो पर आज तकरीबन 40 एफ. एम. स्टेशन चल रहे हैं और वो लगभग 18 घंटो तक भारतीय फिल्मो का संगीत सुनाते हैं और जो गीत आप यहाँ नही सुनते हैं वो गीत आपको वहां उस देश में सुनने को मिल जायेंगे और ज्योतिका राय जी मिल जाएंगी आपको शमशाद बेगम भी मिल जाएंगी राजकुमारी भी मिल जाएंगी और हमारे सदाबहार मोहम्मद रफी, मुकेश के गीत आपको सुनने को मिलेंगे जिस देश में गंगा बहती हैं, सारंगा तेरी याद में रफी का सुहानी रात ढल चुकी गीत तो वहां का नेशनल सांग हैं कोई प्रोग्राम भारतीय संगीत का सुहानी रात

के बिना पूरा नही होगा और चौदहवी का चाँद हो और ऐ मेरे वतन के लोगो ये सारे गीत रोज वहां की फिजाओ के अंदर गूंजते रहते हैं ऐसा गहरा लगाव उन लोगो का भारत से हैं और वो आज कल हिन्दू भी सीख रहे हैं बहुत तेजी से वह पर हिंदी का काम आगे बढ़ रहा हैं मुझे एक ऐसा अभूतपूर्व अवसर मिला कि जब मैं वहां पर एज ए डिप्लोमैंट गया तो वहां की यूनिवर्सिटी में हिंदी नही थी उनके वाईस चांसलर के कहने पर यूनिवर्सिटी ऑफ वेस्टंडिस के अंदर पहली बार मैंने हिंदी का को शुरू किया मैं उसका पहला विजिटिंग प्रोफेसर था ऑर्डनरी प्रोफेसर था, अब वहां पर वो काम चल रहा हैं इस तरह से हम देखते हैं कि दुनिया से बाहर अनेक देशों के अंदर ये सारी चीजें चल रही हैं इसके अनेक बहुत सारे कारण भी हैं सूर्य नाम के अंदर रेडियो राधिका काम करता हैं वहां पर बहुत सारे स्कूल हैं कॉलेज हैं जहा हिंदी बोली जाती हैं और उस हिंदी को भी उन्होंने अपने तरीके से कर लिया जैसा की मैं एक मित्र के साथ टेक्सी में बैठ रहा था तो टेक्सी वालो से कहता की टेक्सी हाको न मैं बड़ा सुन करके सोचने लगा कि ये क्या हुआ कि जो हमारे यहाँ टांगा और बैलगाड़ी हॉकी जाती हैं उस तरह से वो उस भाषा का प्रयोग कर रहे हैं कि टैक्सि हॉको और जो वहां का ऑफिसियल मनी हैं वो हैं गिल्डर, हॉलैंड वाला क्योकि हॉलैंड की कॉलोनी थी टच कॉलोनी तो उसको रूपया ही बोलते हैं उनके लिए वो पैसा हैं तो वो रूपया हैं जो पैसा हैं वो रुपया और वो रूपया बोलते हैं । घाना में भी इस तरह हिंदी का काम हो रहा हैं फिजी में भी विकास हो रहा हैं। मॉरीशस में भी शिवरात्रि इतना बड़ा राष्ट्रीय त्यौहार हैं कि आप कल्पना नही कर सकते की चार-पांच लाख लोग उन पांच-छः दिनों के अंदर गंगा तालाब की यात्रा करते हैं और वो गंगा तालाब जिसको आज जाना जाता हैं पवित्र स्थल के रूप में वो कभी एक तालाब था उसको फेंच लोग ग्रैंड वेसन बोलते थे बाद में लोगो ने उसके बारे में कुछ कहानियां बनायी तो वो परी तालाब हो गया परी तालाब के बाद उसका नाम राम गुलाम जब वहा के प्राइम मिनिस्टर बने उन्होंने भारतीयता से जोड़ने के लिए उसका नाम कर दिया गंगा तालाब और जब इंद्रा गाँधी पहली बार मॉरीशस यात्रा पर गयी तो उनसे कहा गया कि आप अपने यहाँ से दो तीन घड़े गंगा जल लेकर के आइएगा और वो गंगा जल जब उसमे डाला गया तो उस दिन से वो गंगा तालाब हैं इन सारे प्रवासी भाइयो ने जिन जिन देशों में भी वो गये वहाँ की नदियों को भी अपनी तरह से मान दिया त्रिनाडी में भी एक नदी हैं करोनि नदी उसको वो भी वहाँ करोनि मईया बोलते हैं जैसे गंगा मईया हमारे यहाँ बोला जाता हैं फिजी के अंदर रेवा नदी हैं वो उनके लिए गंगा मैंया जैसी हैं ये जो भारतीयता का तत्व हैं ये हिन्दी के साथ जुड़ा हैं और इसके सहारे दोनों चीजे आगे बढ़ती हैं कोई कम कोई ज्यादा ये निरन्तर प्रचार पा रहा हैं ये तो हुए सांस्कृतिक पक्ष को बात अब मैं कुछ पॉलिटिकल बात करता हूँ आपको याद होगा की हमारे देश में आजादी के बाद जब राज भाषा अधिनियम बना तो ये तय हुआ की आगे आने वाले दिनों में हिंदी में ही सब काम होंगा पूरी दुनिया के कान खड़े हो गए की अगर हिंदी में काम हुआ हिंदुस्तान में तो हमको भी हिंदी आने चाहिए और 15 वर्ष का समय दिया गया सन् 1965 के आस पास हिंदी को लागू हो जाना चाहिए था लेकिन वो राजनीतिक कारणों से नही हुआ लेकिन उससे पहले ही यूरोप के अंदर श्नाटोश फौज और जितने भी संगठन थे इन लोगो ने तय किया कि आगे हमारे कूटनीतिक कामो को चलाने के लिए हिंदी जरुरी हो जायेगी इसीलिए देखेंगे यूरोप के अनेक देशों के अंदर जो हिंदी शुरू हुई हैंजल बग वगहरा के अंदर उसका कारण ये था जो

हमारे राजनीतिक कार्यो से जुड़ा था लेकिन जब उन्होंने देखा कि 15 साल निकल गए 50 साल निकल गए लेकिन हिंदी आयी नहीं अंग्रेजी से ही काम चल रहा हैं तब हिंदी का प्रचार प्रसार कम होता चला गया आज कैम्ब्रिज से हिंदी निकल गयी साउथ एशियन अफ्रीकन से हिंदी निकल गयी जब हिंदी पढ़ने वाले नहीं हैं तो हिंदी किसके लिए रखी जाए लेकिन 911 के बाद विश्व प्रशासन की आँखे खुली और उनको लगा की हमारे ऊपर ये जो आक्रमण हुआ हैं और भी आक्रमण हो सकते हैं वो इसीलिए की हमको हिंदी, उर्दू , अरबी नहीं आती हैं इसीलिए वहाँ पर एक नया प्रोग्राम शुरू किया गया हैं जिसे हिंदी उर्दू "लेक्सशिक प्रोग्राम कहा जाता हैं और इसको टेक्सास यूनिवर्सिटी के अंदर शुरू किया गया हैं और बड़े लेवल पर ये काम हो रहा हैं और बहुत पैसा अलॉट किया गया कि ये जो क्रिटिकल लैंग्वेज जो हैं जो ऐशिया से जुडी लैंग्वेज हैं जिन्हें आगे आने वाले वक्त में हमे काम पढ़ेगा इनको ज्यादा से ज्यादा लोग सीखे इसीलिए वह पर एक इरवाइवाल हो रह हैं कि ज्यादा से ज्यादा भारतीय महाद्वीप की भारत से जुडी भाषाओ को सीखा जाए इसके कुछ और भी कारण हैं जैसा कि हमारे प्रधानमंत्री जी आपको कहते हैं भारत सबसे युवा देश हैं आज दुनियां में और आगे आने वाले दिनों में विश्व के अनेक कोनों में बुजुर्ग लोग ज्यादा मिलेंगे युवा नही मिलेंगे, जापान के अंदर कितना नीचे चला गया हैं ग्रोथ रेट 10-15 सालों से मैं जानता हूं कि वहाँ पर जन्म लेने वाले बच्चो की संख्या नेगेटिव में जा रही हैं यानी अगले 20 सालों में वह युवा जन्म नही होगी प्रोन लोग होंगे तो काम कौन करेगा तब नए लोगो की जरुरत पढ़ेगी और वो हमारी तरफ देखेंगे आज से 5-6 साल पहले जापान के प्रधानमंत्री कोइजूमे यहाँ आये थे तो उन्होंने भारत सरकार से रिक्वेस्ट की थी कि आप अपनी यूनिवर्सिटी में जापानी भाषा को ज्यादा से ज्यादा पढ़ाइए वो विजन हैं कि आगे आने वाले सालों के अंदर जापानी पढ़ा हुआ स्किल्ड वर्कर अगर हमें मिलता हैं भारत से तो हमारे लिए वो एक्सेप्ट हैं और ये संदेश में आप सब लोगो को भी देना चाहता हूं कि आप धीरे धीरे हिंदुस्तान में काम के लिए बहुत सेतुरतिओं पर जा रहे हैं लेकिन आप हिंदी पढ़िए और उसके साथ साथ अन्य भाषाओं के रूप में अन्य कुछ विदेशी भाषाओ को सीखे तो आपके लिए अन्य प्रोस्पेक्टस भी हैं हिंदी पढ़ते हुए यदि आप जापानी भाषा भी पढ़ना शुरू कर दे तो हो सकता हैं कि अगले 4-5 सालों के अंदर आपको वह पर भी काम करने की गुंजाइश मिल सकती हैं क्योकि आगे आने वाले समय में हिंदुस्तान के युवाओं की जरुरत पूरे विश्व में होने वाली हैं जहाँ आपकी अकेले हिंदी काम नहीं आएगी लेकिन आप कोई और स्किल सिख कर के विदेशो में जाते हैं तो आप वहां हिंदी का परचम फहरा सकते हैं इसीलिए आज दुनिया के हर कोने में हिंदी बोली जा रही हैं क्योंकि हमारे जैसे लोग वहां पर गए हुए हैं खाड़ी के कितने देश हैं सब में हिंदी आप बोलिये हिंदी, उर्दू जिसे कहना चाहिए हिंदुस्तानी जिसे कहना चाहिए उसके सहारे आप आगे चलते चले जायेंगे आपका भी विकास होगा देश का भी विकास होगा विश्व का भी विकास होगा तो भाषाओ के लिए अब हमें आने दृष्टिकोण को बदले की जरूरत हैं हम सूर, तुलसी जरूर पढ़े हम प्रेमचन्द भी पढ़े क्योकि वो हमें मानवीयता का पाठ पढ़ाते हैं हमको मनुष्य बनाते हैं लेकिन उसके साथ साथ हमको दुनिया के भी बारे में जानना चाहिए कि वो कहा जा रही हैं जबतक हम अपना आई-क्यू विकसित नहीं करेंगे तब तक हम हिंदी वाले कूट मंडूक हो करके रह जाएंगे जरुरी ये हैं कि आप हिंदी पढ़िए, अच्छी हिंदी बोलिये, अंग्रेजी सिख सखे तो अंग्रेजी भी सीखिये लेकिन

अंग्रेज मत बनिये हमारा देश हिंदी से परेशान नहीं हैं हम अंग्रेजियत के मारे हुए लोग हैं हम उस हीनता से मारे हुए लोग हैं जो सोचते हैं कि हम हिन्दी पढ़ते हैं क्यों हम कोई गुनाह करते हैं कि हम हिंदी पढ़ते हैं हम से ज्यादा समझने वाला कोई हैं जितनी तुरत बुद्धि हम में हैं, हिंदी पढ़ने वाले में हैं उतनी किसी अंग्रेजी वाले में नहीं हो सकती हैं क्योंकि हम इस लोक से जुड़े हुए हैं लोक मानस से जुड़े हुए हैं अपनी उस शक्ति को पहचानने की आपको बड़ी जरूरत हैं। मैं जापान में था दस साल रह गया दो साल के लिए था हरीश जी ने कहा लौटना नही वही रहिये तो मैं 10 साल वहाँ रुक गया।

इन 10 सालों के अंदर जापान में मैंने देखा जापान में हिंदी की पढ़ाई कब शुरू हुई ये जान कर आपको बहुत आश्चर्य होगा! सन् 1908 में 108 साल पहले आप जरा विकिपीडिया पर जाइये और पता कीजियेगा कि सबसे पहले हिंदी कहाँ पढ़ाई जाती थी किस देश में पढ़ाई जाती थी? आपको पता ही नही चलेगा आप सोचेंगे कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी के अंदर या अमेरिका की यूनिवर्सिटी के अंदर हिंदी बहुत सालों से पढ़ाई जा रही हैं ये मिथ है गलत है। जापान ने सन् 1908 में हिंदुस्तानी विभाग खोला था तब हिंदुस्तान अंग्रजो के अंदर था जो भाषा बोली जाती थी वो हिंदुस्तानी कहलाती थी हिंदी कम कहलाती थी इसलिए श्महात्मा गांधी भी हिन्दुस्तानी शब्द का प्रयोग करते थे वो हिंदी, उर्दू, फारसी, अरबी सब मिली जुली एक भाषा थी जो बोलचाल में आती थी और हिंदी या हिंदवी कहलाती थी उस भाषा की शुरुआत वहां हुई थी और सन् 1909 में वहा पर मौलाना बरकतुल्ला खाँ भोपाली, उससे पहले प्रोफेसर थे हिंदी, उर्दू, फारसी पढ़ाने के लिए उनके नाम पर भोपाल के अंदर एक बरकतुल्ला खाँ नाम से एक यूनिवर्सिटी हैं वो वहां पढ़ाने के लिए गये थे और बाद में वो वहा से चल कर पार्टी में चले गए तो हिन्दी का महत्व जापान ने बहुत पहले पहचान लिया था और तभी से वहां पर हिंदी की पढ़ाई होती हैं। मेरा प्रवेश वहां होता हैं सन् 2002 से इससे पहले वहा भारतीय प्रोफेसरों के जाने की एक लंबी परंपरा वहां मौजूद थी वहां की पढ़ाई की कुछ विशिष्टाये में आपको बता करके में अपने वक्तव्य को समाप्त करुंगा,तो वहां पर हिंदी पढ़ाने का मतलब सिर्फ ये नहीं हैं कि आपको आ, ई सीखा दी जाए आपको कुछ पंचन्त्र की कहानियां पढ़ा दी जाए, कबीर के कुछ दोहे पढ़ा दिए जाए मीरा, तुलसी पढ़ा दिए जाये। इसके साथ-साथ आपको जरुरी हैं कि आप इस देश के भोजन के बारे में भी जाने भोजन पकाना भी जाने यहाँ के जो वस्त्र हैं उनके बारे में जाने और उनको पहने भी तो भाषा, भूषा, भोजन, तीनो की शिक्षा देने की व्यवस्था भी वहां पर हैं इसलिए वहा पर प्रथम वर्ष के छात्रों को नियमित रूप से हर साल होने वाले सांस्कृतिक समाहरो के अंदर भारतीय भोजन बनाना होता हैं और भारतीय भोजन जब मैं कहता हूं तो मैं सिर्फ भारतीय की बात नहीं कह रहा वहा पर 27 भाषाएं पढ़ाई जाती हैं विदेशी और सारी 27 भाषाओ से जुड़े हुए देशो का भोजन उस विशाल परिसर के अंदर अलग अलग स्टाल लगे होते हैं कही आपको इतालवी खाना मिलेगा कही पाकिस्तानी कबाब मिलेंगे कही टर्की की नान मिलेगी तरह तरह का भोजन पूरा जापान उमड़ पड़ता हैं उन साथ दिनों तक उस भोजन का स्वाद लेने के लिए, बच्चे जो स्टाल लगाते हैं उसके लिए यूनिवर्सिटी जगह देती हैं बाकी उसके ऊपर लाखों रुपये खर्चा करके वो स्टाल लगाते हैं, कोई गेस का चूल्हा लाएंगे पतीले लाएंगे किराए पर सब कुछ लाएंगे न और जो बेच लेते हैं तो कुछ प्रॉफिट भी हो जाता हैं उस प्रॉफिट से वो देश की

यात्रा भी कर लेते हैं तो ये तो हुई भोजन की बात अब मेरे लिए बड़ी समस्या कि जो भारतीय प्रोफेसर जाएगा वो भारतीय खाना बनाना भी सिखाएगा और मैं तब अकेला था पत्नी मेरी भारत में ही थी तो एक दिन मेरे स्टूडेंट बोले की सर आपको हमे भारतीय खाना बनाना सीखना हैं तो मैंने मन ही मन सोचा की इनको पता चल गया हैं कि मुझे खाना बनाना आता हैं ये क्या मुसीबत आ पढ़ी, तो हमको बताया गया की हमको ये सब करना हैं कुछ कड़ी वहां पर सब्जी को कड़ी बोलते हैं कड़ी बनाना सीखना हैं, रोटी बनाना सीखना हैं, समोसा बनाना सीखना हैं मैंने कहा आ जाओ भैया जिस दिन भी सीखना हैं पूरी क्लास 20 लोगो की मेरे घर पर आ गयी और उनसे मैंने कहा कि सब्जी कौनसी बनाओगे पालक पनीर बनान क्या बनाना हैं तो कहते नहीं नहीं सब्जी हम अपने आप लेकर आएंगे जो हमे बनानी हैं जब वो लोग आये मैं सोचता रहा की पता नहीं क्या सब्जी बनवाना के लिए आरहे हैं क्या पता मुझे बनानी आये न आये वो अपने साथ लेकर आये इतना बड़ा काशीफल मैंने देखा की ये काशीफल की सब्जी बनाओगे तो उन्होंने कहा हांजी ये खाबोचा उसका जापानी नाम हैं खाबोचा हम बनायेगे बड़ा महंगा होता हैं उसके बाद मुझे पता चला की एक-डेढ़ किलो का खाबोचा 250-300 रुपये का आता हैं हमारे यहाँ तो गरीब का भोजन हैं भाई खैर अब तो ये भी महंगा हो गया हैं हिंदुस्तान में। तो वो खाबोचा लेकर आ गये एक दम पका हुआ तो मैंने उसे काटना शुरू किया मेरे हाथ पीले हो गए शादी में मैंने हाथ पीले नही कराये तब पीले हो गये और मैंने जब उसे बनाया तो हमारे यहाँ जब काशी फल बनाते हैं तो थोड़ा पानी डालो तो वो अपना पानी भी छोड़ देता हैं मैंने उसी हिसाब से पानी डाला और वो दुष्ट पानी जो हैं उसके अंदर घुस गया और वो हलवा बन गया सब्जी बनी नहीं हलवा बन गया और मैंने उसमे मसाला वसाला डाला और रोटी वोटी बनायी तो बच्चे मेरे सामने यो खड़े हुए हैं लाइन बना कर के कोई फोटो खींच रहा हैं कोई जो में बोल रहा हूँ उसको रिकॉड कर रहा हैं कोई कॉपी पर कुछ लिख रहा हैं मतलब उनको वो पूरी क्लास हैं वो जाकर वो प्रैक्टिस करनी हैं न तो क्या करना हैं कि पूरा रिकॉड उन्होंने अपना बनाया रोटियां बेली बेलना शुरू किया गोल नहीं हो रही थी तो धीरे धीरे वो भी आगयी इस तरह मैंने उन्हें खाना बनाना सिखाया पहली बार तो मुझे पता चला कि यहाँ सिर्फ भाषा ही सीखना जरूरी नहीं हैं उससे जुड़ी और भी बहुत सारी चीजें जानना भी जरूरी हैं ।

फिर दूसरा अनुभव हुआ कि सर एक नाटक करना हैं सैकंड ईयर के स्टूडेंट आये कि सर आपको नाटक कराना हैं मैंने कहा वो क्या मतलब हैं नाटक तो उन्होंने कहा कि सर ये तो हमेशा हर साल होता हैं तो फिर मैंने जब रिसर्च की तो मुझे पता चला की सन् 1923 में बुद्ध नाम का एक नाटक हुआ जिसका मुझे फोटो और रेफरेंस मिला इसका मतलब ये कि कितनी लंबी परंपरा वो नाटक की भी चली आ रही हैं हमसे पहले इंदु जैन गयी थी आई. पी. कॉलेज से उन्होंने जो हैं रामकुमार वर्मा के वासद दत्ता जैसे कुछ नाटक कराये थे इंदुजा अवस्थी गयी थी इन सब लोगो ने बहुत अच्छे अच्छे नाटक उन्होंने करवाये थे, मेरे सामने समस्या थी कि मैं क्या करूँ, मैं 3 महीने लेट गया था अब मुझे कुछ सूझे नहीं बच्चे भी कहने लगे की सर इस साल नाटक नहीं करेंगे, मैंने कहा न परम्परा नहीं टूटनी चाहिए तो मेरी क्लास में एक गोल मटोल-सा लड़का था गंजा बिलकुल गौतम बुद्ध जैसा लगता था तो मैंने कहा कोई ऐसा इंस्क्रिप्ट ले लेते हैं जिसमे गौतम बुद्ध का जिक्र आता हो तो पता लगा कि अंगुली माल की कहानी जापान में अपना शेड लिए हुए डिफरेंट किस्म

की हैं लेकिन अवेलेबल हैं, तो हमने फिर अंगुली माल कहानी पर स्क्रिप्ट लिख कर के वो नाटक कराया और उसके बाद दस साल तक दस नाटक मैंने किये और बाद में धीरे धीरे मैंने क्या किया कि क्लास में पढ़ाने के लिए मैंने जापानी कथाओं के भावानुवाद किये और उनसे में उन लोगो को हिंदी पढ़ाता था क्योंकि कथा वो जानते हैं बचपन से सुनी हैं अब उनका हिंदी सिंटेक्स उनके सामने होता हैं वाक्य विन्यास होता हैं शब्द होते हैं उससे जुड़ कर के वो, जोड़ कर के वो जापानी संस्कृति और भारत के हिंदी के शब्दो को जोड़ करके उनका जो एक्स्प्रेशन लेवल होता हैं वो बहुत तेजी से बढ़ जाता हैं भाषा सीखने का तो वो प्रयोग बहुत सफल रहा तभी एक दिन हमारी क्लास में जो सेकंड ईयर के जो स्टूडेंट हैं उन्होंने कहा कि सर ऐसा कीजिये कि इस बार नाटक इसी कहानी पर ही क्यों नही कर लेते हैं तो शुरू हुआ कि चलिये ये कागुया एक कहानी हैं बड़ी प्रसिद्ध इसके ऊपर मैंने स्क्रिप्ट तैयार किया उसको थोड़ा-सा छोटा भी किया क्योंकि बहुत लंबी थी और हमने वो नाटक किया और बहुत सफल रहा और वो देखने ले लिए जापान के हर एक कोनो से लोग आते हैं वहां पर नाटको को देखने के लिए जितना प्रवासी भारतीयों का भी समाज हैं वो भी आता हैं और पाकिस्तानी समाज भी उन नाटको को देखने के लिए आता हैं जब वो प्रयोग बड़ा सफल रहा और उन्होंने जापानी कीमोनो आदि सब पहने थे । उसके बाद अगले साल के बच्चे आये तो बोले कि हम दूसरी वाली जो कहानी आपने हमे पढ़ाई हैं उराशिमातारो हम उसके ऊपर नाटक करेंगे मैंने कहा जय हो इस पर कर लेते हैं चलो फिर बोले एक शर्त हैं सर कि आप एक काम और कर दीजिये मैंने कहा वो क्या बोले इसको हम भारतीय परिवेश में करेंगे कहानी जापानी हैं लेकिन हम सारे पात्रों को आप भारतीय रूप दे दीजियेगा उनका जो ड्रेस होगी उनका जो रूप विन्यास होगा वो सारा भारतीय होगा जैसे वो कोई भारतीयों की कहानी हैं तो जो एक लड़की थी सुंदर सी लड़की थी उस लड़की ने कहा कि सर मैंने देखा हैं कि शादी में फिल्मो में वो दुल्हन एक लहँगा पहनती हैं मैंने कहा कि हां लहँगा पहनती हैं तो उसने कहा कि सर इस नाटक की नायिका मैं हूँ और मुझे दुल्हन भी बनना हैं तो एक लहँगा लेकर के आइयेगा तो मैं उसके लिए लहँगा लेकर के गया तो लड़का क्यों पीछे रहता उसने भी बहुत सारी फिल्मे देखी तो कहने लगा कि सर शादी में जो लंबी अचकन सा जो होता हैं और ऊपर से मफलर डालते हैं कुछ वैसी ड्रेस मेरी होनी चाहिए तो हम उन सबके लिए वो ड्रेस लेकर के गये और वो उराशिमातारो नाम का नाटक हमने वहां पर किया और उन बच्चो ने अपने आप नाम बदल लिए लड़के का नाम कर दिया प्रसन्ना लड़की का नाम राज नंदनी वो शायद उन्होंने वो फिल्म देखी होगी राज नंदनी वाली।

हम दिल दे चुके सनम

तो राज नंदिनी नाम वहां से ले लिया तो मैंने कहा कि प्रसन्ना नाम तो तुमने साउथ से ले लिया तो उनके वहा से एक प्रसिद्ध कलाकार हैं साउथ के वो रजनीकांत की मुत्तु वहां बहुत पॉपुलर हैं तो साउथ का नाम उन्होंने प्रसन्ना ले लिया खेर बहुत जबर्दस्त नाटक हुआ और बाद में जब हमने सन् 1912 में एक कांफ्रेस रखी तो उराशिमातारो नाटक किया था और उस नाटक को देखने वाले लोग स्टैंडिंग ओवेशन देने के लिए खड़े रहे और उसके अंदर थे रेखा विशाल भारद्वाज भी थी शेखर सिंहश भी थे ओम थानवी भी थे बुद्धि नाथ मिश्र भी थे ऐसे ही वहाँ बड़े बड़े लोग मौजूद थे। सन् 1908 में हमने ऊँगली माल नाटक किया था तब हरीश नवल जी ने वो नाटक वहां देखा इसीलिए

वे मेरी बात की कुछ सच्चाई तो वो भी बता देंगे।

क्लास में भी बड़ा मनोरंजन होता था पढ़ते हुए क्योंकि वो सारे बच्चे जापानी थे अचानक एक दिन कोई पूछ बैठा कि सर ये रोटी, फुल्का और चपाती में क्या अंतर हैं?

अब बताइये की अगर एक दम से मैं आप से भी पूछ बैठू की इसमें क्या अंतर हैं तो बता पाएंगे अब मास्टर से क्लास में कोई पूछ बैठे और वो जवाब न दे पाए तो लगता हैं कि ये बेवकफू हैं पता नही हैं इसको कुछ भी (तो हमने कहा अपनी इज्जत बचानी हैं) तो हमने कहा देखो भाई ऐसा हैं कि पहले रोटी बनाते थे लोग हाथ से थेप कर के तो वो रोटी होती थी चूल्हे पर बनाते थे वो रोटी होती थी..

जब चकला बेलन आ गया वो थोड़ी चपटी हो गयी तो वो चपाती हो गयी..

और जब हम अंगारो पर फुलाते हैं फूल जाती हैं तो वो फुल्का कहलाती हैं ..

तो इसी तरह से हमारी इज्जत रह गयी।

अब एक दिन और ऐसा ही एक मजेदार किस्सा हुआ हर रोज कुछ न कुछ होता था एक-दो बातें याद आ रही हैं आपके मनोरंजन के लिए बताता हूं ..

मैंने क्लास में एक प्रयोग किया कि बच्चों से चित्रकथाएं लिखाई जाए तो मैंने सुधीर धार की कार्टून की किताब मेरे हाथ लग गयी तो उसमें बहुत सारे कार्टून थे तो मैं उन कार्टूनो की फोटोकॉपी करता था और पूरी क्लास में बाँट देता था फिर मैं कहता था कि बताइये की इसमें आप क्या-क्या देख रहे हैं बीस लोग हैं एक से पूछता था तो कोई कहता की इसमें एक पेड़ हैं, दूसरा कहता इसमें एक खिड़की हैं, तीसरा कहेगा उसके ऊपर आम लटका हुआ हैं, खिड़की से बाहर सूरज लटका हुआ हैं तो पेड़, सूरज, खिड़की जैसे शब्दों का अभ्यास अनायास हो रहा हैं और उनकी जो वोकेबुलरी हैं वो अपने आप निकल कर के हमे बता रही हैं कि उन्हें कितने शब्द आते हैं जब ये इतने शब्द उन्हें मालूम हैं तो फिर उसके अंदर वाक्य विन्यास भी हम शुरू कर देते थे कि ये एक चित्र हैं एक पेड़ हैं इसमें इस तरह से वाक्य विन्यास शुरू हो जाता था तो ऐसे ही मैं एक्सरसाइज करता था तो एक जो कार्टून था वो यू था कि एक स्त्री पूरुष जो हैं जनपद जैसे बाजार में जा रहे हैं और पीछे लिखा हुआ हैं टॉय-शॉप, मसाले की दूकान, साड़ी सेल अब वो जो पत्नी साथ जा रही हैं तो पुरुष अपने हाथ को यूं उसकी आँखो के सामने मुँह बना कर कहता हैं कि देर हो रही हैं जल्दी चलो (कि वो साड़ी सेल न देख ले) तो इसीलिए वो उसकी आँखों के आगे पर्दा करता हैं कि घर चलो अब ये मैंने चित्र उनको दिए अब वो उन्हें देखते रहे सोचते रहे समझ न आये और वो भारत यात्र पर भी आते थे ओर उन्होंने जनपद बाजार भी देखा था तो एक लड़की ने एक लेख लिखा हैं उसने कहा कि एक दिन राजा और मीना बाजार गए वे जनपद गये (क्योकि वह जनपद गयी थी) क्योंकि उनको कुछ शॉपिंग करनी थी क्योकि उनकी शादी की बरसी थी और मैंने जब बरसी पढ़ा तो मैं एकदम जोर से हँस पढ़ा अब वो बेचारी लड़की बहुत डर गई बोली सर मैंने कोई गलती कर दी मैंने बोला नहीं नहीं तुमने बहुत बड़ा सच बोल दिया नजाने कितने लोगो के लिए बरसी ही होती हैं तो फिर मैंने उन्हें एक्सप्लेन किया और समझाया कि भाषा के अंदर बहुत बार जब

हम शब्दो का प्रयोग करते हैं तो हमारी संस्कृति आड़े आ जाती हैं उस बेचारी ने डिक्शनरी से एनिवर्सरी शब्द देखा तो उसके अंदर बरसी शब्द मिला उसने लिख दिया, लेकिन भारतीय संदर्भ में बरसी शब्द हमने मान लिया मृत व्यक्ति से जुड़ी हुई तो गड़बड़ हो गयी, तो इस तरह से हमे भाषा पढ़ाते हुए रोज कुआं खोदो रोज पानी पियो वाली स्थिति होती थी तो बहुत बार तो मैं सोचा की क्लास की कोई तैयारी नही करनी हैं एक्सटेंपो क्लास शुरू करनी हैं मैं बच्चो से जाकर के पूछता था कि बोलिये आज आपको क्या पढ़ना हैं कैसे? क्या करना हैं? अपने आप विषय मिल जाते थे। कभी-कभी तो हम उनसे पूछते थे कि चलो आज पिकनिक चलते हैं तो पूरी क्लास पिकनिक के मूड में तैयार हो जाती थी तो हम कहते एक स्थान चुनिए तो एक लड़की कहती हम श्टोक्यो टावरश देखने गए अब दूसरे बच्चे से कहते की आगे बोलो तो वो कहता कि हम मेट्रो से गये तो फिर आगे क्या हो तो कंटीन्यूएशन होता था ये मैं इसलिए बता रहा हूं कि आप में से बहुत सारे अधयापक हैं और बहुत सारे अधयापक बनेंगे तो एक इनोवेटिव तरीके से भी हम भाषा शिक्षण कर सकते हैं और आज विदेशो में हिंदी पढ़ाने का बड़ा काम हैं अच्छे लोग नहीं मिल रहे ज्यादातर लोगो को चुनाव करने वाले लोग (नामवर सिंह) जैसे बड़े-बड़े लोग होते हैं और वो उन लोगो को भेज देते हैं जो बड़े-बड़े प्रोफेसर हैं (जे. एन. यू.) (दिल्ली यूनिवर्सिटी) में कही-कही और वो जाकर हीनता ग्रन्थि से ग्रस्त हो जाते हैं श्अरे हम तो वहां मार्क्सवाद पर लेक्चर देते थे हम लोगो को ये पढ़ते थे हम ओडर्निस्म पढ़ाते थे और हम जो हैं दुनिया भर की यहाँ हमको अ, आ,इ,ई पढ़ानी पढ़ रही हैं और वो कभी रस नही ले पाते थे और इसका परिणाम ये होता था कि साल गुजर जाता हैं वो लौट आते हैं और हिंदी प्रचार प्रसार का काम विदेशो में कही भी नहीं पहुँचता हैं आप सब लोग अपने को तैयार कीजिये आप सिपाही बन जाइये हिंदी को दुनिया में पहुचाने के लिए और आप सोचिये की आप कैसे ज्यादा से ज्यादा अच्छे तरीके से हिंदी पढ़ा सकते हैं और वो में क्यों कह रहा हूं कि आप में से बहुत सारे लड़के-लड़किया श्लड़किया खास तौर से जो शादी होकर कनाडा चली जाए,अमरीका चली जायेगी तो आपके लिए बहुत अच्छा काम वहा मिल सकता हैं और करने के अलावा वहां के लोगो के साथ मिलकर आप हिंदी पढ़ाने के काम से जुड़ सकते हैं मुझे कनाडा का एक आदमी मिला बोला मैं वहां पर हिंदी पढ़ता हूं मैंने बोला कि आपका तो हिंदी से कोई लेना-देना ही नही हैं, बोला कि वहा हम पर इतना प्रेशर पड़ा कि हमे हिंदी पढ़ाओ और मेरे पर कोई टेक्स्ट बुक भी नही थी एक पूरानी फिल्मी मैंगजीन पड़ी हुई थी श्माधुरीश की मैंने तो उसी के लेशन बना कर लोगो को हिंदी पढ़ा दी ।

ये जो क्रिएटिविटी हैं कि जैसी परिस्थिति हैं हमको वैसे काम करना हैं ये गुण आप अपने में पैदा कर ले तो हिंदी पढ़े या अंग्रेजी कोई फर्क नही पढ़ेगा आप अपनी जिन्दगी में हमेशा-हमेशा सफल रहेंगे।

✧ ✧ ✧

प्रस्तुति : चरणजीत सिंह सचदेव
एसोसिएट प्रोफेसर, खालसा कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

कुमारी अनामिका, लेखिका मगध विश्वविद्यालय अंतर्गत पी.एच.डी. उपाधि के लिए शोध कार्य कर रही हैं।

सैंधव सभ्यता में शिव की उपासना और शिवतत्व

कुमारी अनामिका

सैंधव सभ्यता में मुहरों का विशिष्ट स्थान था। ये मुहरें बेलनाकार, वर्गाकार, आयताकार एवं वृत्ताकार रूप में मिली हैं। अधिकांश मुहरों पर संक्षिप्त लेख, एक श्रृंगी सांड, भैंस, बाघ, हिरण, बकरी एवं हाथी के चित्र उकेरे गए हैं। इनमें से सर्वाधिक आकृतियाँ एक श्रृंगी सांड की मिली है। शंकु तथा बेलन के आकार के पत्थरों से यह ज्ञात होता है कि उस समय शिव की मूर्ति पूजा के अतिरिक्त लिंग पूजा भी प्रचलित थी।

विश्व की प्राचीन नदी घाटी सभ्यताओं में एक प्रमुख सभ्यता सिंधु घाटी सभ्यता से हड़प्पा उत्खनन के पूर्व तक वेदों को ही हिंदू धार्म एवं रूद्र जिव के आदि रूप के आधार स्तंभ के रूप में स्वीकृत किया जाता था किंतु उत्खननों के पश्चात् प्राप्त हुई जानकारियों ने अचानक ही इन मान्यताओं के बीज को और प्राचीन रूप दे दिया है। मार्शल के शब्दों में - The religion of the Indus Valley is lineal progenitor of the Hindu Civilization- (Sir J. Marshal) हालाँकि अभी इस सभ्यता की लिपि का पढ़ा जाना शेष है किंतु फिर भी प्राप्त सामग्रियों के विश्लेशण एवं विवेचन से सैंधव धर्म एवं मान्यताओं में शिव और शिवोपासना के स्वरूप का एक आरेख खींचा जा सकता है। **(प्राचीन भारत, आलोक कुमार पाण्डेय, टाटा मैकग्रयू हिल्स सीरीज)**

इसका आधार वे मुहरें, मुद्रा, मुद्राछाप, मूर्तियाँ, सूचनाएँ हैं, जो हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाई से प्राप्त हुई हैं और जिन्हें विद्वानों ने सिंधु घाटी सभ्यता का

अवशेष माना है। इस सभ्यता के अधययन में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इसके अवशेषों से प्राप्त छिटपुट संकेत ठीक-ठीक समझ में नहीं आते। यद्यपि कुछ विद्वानों ने उन्हें पढ़ने का दावा किया है किन्तु यह दावा एकदम सही है – इसपर सभी विद्वान एकमत नहीं हैं।

अभी तक सिंधु घाटी की खुदाई में कोई मंदिर या पूजा का स्थान नहीं मिला है, अत: इस सभ्यता के धार्मिक जीवन का एकमात्र स्रोत यहाँ पाई गई मिट्टी और पत्थर की मूर्तियाँ तथा मुहरें ही हैं। इनसे यह ज्ञात होता है कि यहाँ मातृदेवी की, पशुपति शिव की तथा उनके लिंग की पूजा और पीपल, नीम आदि पेड़ों एवं नागादि जीव-जंतुओं की उपासना प्रचलित थी। पुरूष देवताओं में पशुपति प्रधान प्रतीत होता है। एक मुहर में एक विचित्र शिरोभूषा, तीन मुँह एवं सींग वाले, हाथों में चूड़ियाँ, गले में हार पहने एक नग्न व्यक्ति को चौकी पर पद्मासन लगाकर बैठा दिखाया गया है, जिसके आसपास हाथी, बैल एवं हिरण जैसे पशु हैं। यह मूर्ति शिव के पशुपति रूप की मानी जाती है। पद्मासन में ध्यानावस्थित मुद्रा में इसकी नासाग्र दृश्टि शिव के योगेज्वर या महायोगी रूप को सूचित करती है। अनेक विद्वानों ने मोहनजोदड़ो की अति प्रसिद्ध शालधारिणी मूर्ति का भी योग से संबंध जोड़ा है।

सैंधव सभ्यता में मुहरों का विशिष्ट स्थान था। ये मुहरें बेलनाकार, वर्गाकार, आयताकार एवं वृत्ताकार रूप में मिली हैं। अधिकांश मुहरों पर संक्षिप्त लेख, एक श्रृंगी सांड, भैंस, बाघ, हिरण, बकरी एवं हाथी के चित्र उकेरे गए हैं। इनमें से सर्वाधिक आकृतियाँ एक श्रृंगी सांड की मिली है। शंकु तथा बेलन के आकार के पत्थरों से यह ज्ञात होता है कि उस समय शिव की मूर्ति पूजा के अतिरिक्त लिंग पूजा भी प्रचलित थी।

सिंधु घाटी सभ्यता से शैव धर्म के सांप्रदायिक स्वरूप की प्रस्तर मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं उन्हें **मार्शल** (Marshall) ने तीन प्रकारों में बाँटा है – सामान्य प्रस्तर खंड, लिंग और योनि प्रकार के प्रस्तर, लिंग प्रकार के प्रस्तर खंड।

कुछ विद्वान यह मानते हैं कि वैदिक आर्यों में लिंगोपासना का प्रचलन था और यह उनके धर्म में प्रविष्ट एक अनार्य तत्व है उनका कहना है कि आर्यों में इसका प्रचार सिंधु घाटी सभ्यता के संपर्क से हुआ। उन विद्वानों के विचार से सिंधु घाटी की सभ्यता में लिंग पूजा प्रचलित थी। यहाँ से कुछ ऐसी मुहरें भी प्राप्त हुई हैं जो उस समय के पाशुपत संप्रदाय की स्थिति को उजागर करती हैं। **मार्शल** (Marshall) तथा **मैके** (Mackey) ने ऐसी चार मुहरों की ओर संकेत भी किया है। इनमें से एक मुहर ऑक्स्फोर्ड के अश्मोलियन संग्रहालय में सुरक्षित है। सभी मुहरों में बनी आकृतियाँ लगभग समान हैं। सिंधु घाटी सभ्यता में मिली इन मुहरों में आसन पर एक देवता विराजमान है जो सिर पर एक खोल धारण किये हुए है जिसमें तीन सींग हैं। इसके तीन सिर हैं। इसका एक पैर मुड़ा

है और एक नीचे की ओर लटका है। इसके हाथ दोनों घुटने पर हैं तथा इसकी आकृति ध्यानावस्थित है। इसके दोनों ओर पशु हैं जिसमें कुछ पालतू हैं और कुछ वन्य। इसकी छाती पर त्रिशूल की आकृति अंकित है। इन मुहरों पर कुछ खुदा है। **मार्शल** (Marshall) **के अनुसार** सिंधु घाटी से मिली यह तीन सिर वाली मूर्ति आज के पशुपति शिव की है। **मैके** (Mackey) ने भी इसे शिव की मूर्ति माना है। विद्वानों के अनुसार अथर्ववेद की ऋचा के आधार पर इन लेखों को पढ़ने तथा इनकी व्याख्या का प्रयास किया गया है। यह संभवत: आसुरी प्रवृत्ति को भगाने के लिए लिखा गया है। इस देव को देखकर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि देवता और लिंग दोनों रूपों में इनकी पूजा का चलन उस समय भी रहा होगा। **(प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन, डॉ॰ शिवस्वरूप सहाय, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली)** जो भी हो यह शिव के पशुपति रूप की मूर्ति निर्विवाद लगती है। इसके तीन सिर शिव के त्रिनेत्र के द्योतक हैं तथा तीन सींग शिव के प्रतीक स्वरूप है। सिंधु घाटी सभ्यता के नगरों में एक सील पाया जाता है जिसमें एक तीन या चार मुख वाले योगी का चित्र है, कई विद्वान मानते हैं कि यह योगी शिव है। मेवाड़ जो कभी सिंधु घाटी सभ्यता की सीमा में था वहाँ आज भी शिव के अवतार चार मुख वाले एकलिंगनाथ जी की पूजा होती है। इसी आधार पर **ह्वीलर** (Wheeler) का विचार है कि हिंदुओं में शिव और लिंग पूजा हड़प्पा सभ्यता से प्रारंभ हो गयी थी। स्पष्ट है कि सिंधु सभ्यता के समय शिव की पूजा लिंग तथा शिश्नधारी देवता दोनों रूप में की जाती थी।

यहाँ से प्राप्त दो कबन्ध प्रस्तर मूर्तियाँ जो पैरों की भावभंगिमा के कारण नृत्य की स्थिति का बोधा कराती हैं, नर्तक शिव की मानी जाती हैं। कुछ इतिहासकारों ने इन्हें नृत्यमुद्रा में उधर्वलिंगी होने का भी अनुमान लगाया है। यहाँ की एक मुहर पर योग मुद्रा में ध्यान की स्थिति में बैठे शिव की आकृति का अंकन है। इसके सामने दो तथा दोनो बगल में बैठी एक-एक सर्प की आकृति बनी है। शिव का एक रूप बनवासी का भी होता है। यहाँ एक मुहर पर तीर-धनुश चलाते हुए एक आकृति मिली है। इसे शिव का वनचारी रूप माना जाता है।

सिंधु घाटी सभ्यता में बहुत से बड़े तथा छोटे शिवलिंग मिले हैं। कुछ के ऊपर छेद हैं जैसे ये धागा में पिरोकर गले में पहनने के काम आते होंगे। यहाँ जिवलिंग के नीचे गड़े ताबीजों के समान पत्थर के टुकड़े मिले हैं, जिसके किनारे छिद्र बने हैं। संभवत: शिव के द्वारा अभिमंत्रित करने के लिए ही ये शिवलिंग के नीचे गाड़े गए होंगे। बड़े लिंग चूना पत्थर और छोटे घोंघे के बने हैं। इनकी पूजा विभिन्न समुदायों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से करने का अनुमान लगाया जा सकता है।

पौराणिक काल में शंकर का भूतनाथ नाम प्रसिद्ध हुआ परंतु भूत-प्रेतों के प्रति लोगों का विश्वास सिंधु घाटी सभ्यता के समय से ही उभर चुका था। संभव है कि शंकर ही उस समय उनके स्वामी

रहे हों। उस समय भी शुभ-अशुभ प्रभावों की मान्यताएँ थीं एवं इनसे मुक्ति के लिए योनीपूजा भी सिंधु सभ्यता में प्रचलित थी। संभव है इन मान्यताओं एवं विशिश्ट बीमारियों से छुटकारा पाने के लिए छोटे- छोटे लिंगों को योनी के साथ ताबीज की तरह गले में धारण करते होंगे। सिंधु घाटी में बहुत से ऐसे योनी युक्त शिवलिंग के समान कोणाकार पत्थर की आकृतियाँ मिली हैं जिनके ऊपरी भाग में संभवत: धागा पिरोने के लिए छिद्र बने हैं। इससे यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि बीमारियों का संबंध तब शिव से माना जाता होगा तथा उनके उपचार के लिए शिवलिंग धारण करना यहाँ के निवासी टोटके के रूप में मानते होंगे। (**सैंधव लोगों की धार्मिक मान्यताएँ,** Posted by : **संपादक - मिथिलेश वामनकर,** On : **फरवरी 15, 2009**)

कुछ विद्वान मानते हैं कि हिंदू धर्म द्रविड़ों का मूल धर्म था और शिव द्रविड़ों के देवता थे जिन्हें आर्यों ने अपना लिया। जैन और बौद्ध धर्म के कुछ विद्वान यह भी मानते हैं कि सिंधु घाटी सभ्यता के निवासी जैन और बौद्ध धर्म के मानने वाले थे परंतु मुख्यधारा के इतिहासकारों ने यह बात नकार दी है।

निश्चय ही उनका यह निश्कर्ष अनुमान पर आश्रित है वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि - इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमें तब तक नहीं मिलता जब तक सिंधु घाटी में जो लेख प्राप्त हुए हैं वे पढ़े नहीं जाते (**शैवमत, डॉ॰ यदुवंशी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्**) । हालाँकि कुछ विद्वानों ने उन्हें पूरी तरह पढ़ लेने का दावा किया है। उदाहरणार्थ **प्रोफेसर ह्राजनी** (Hrozny) ने सिंधु घाटी में मिलने वाली एक सील पर **नाट्य** एवं दूसरी सील पर **नटराज** शब्द पढ़ा है। उनके अनुसार एक अन्य सील पर पशुपति को योग मुद्रा में दिखलाया गया है। एक सील पर उन्होंने **कुट्श** शब्द पढ़ा है जिसका संबंध उनके विचार से सर्प या कुण्डलिनी से जोड़ा जा सकता है। (**एनसियेंट हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न एशिया, इण्डिया एण्ड ब्रीट (प्राचीन भारत का इतिहास शीर्शक खण्ड))। ह्राजनी** (Hrozny) का दावा है कि सिंधु घाटी की सभ्यता में लिंग - योनी की उपासना, बलि-प्रथा तथा मंत्र-योग आदि तत्व बहुत पहले से विद्यमान थे। (**एनसियेंट हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न एशिया, इण्डिया एण्ड ब्रीट (प्राचीन भारत का इतिहास शीर्शक खण्ड))।** डॉ॰ यदुवंशी भी सिंधु घाटी की सभ्यता में लिंगपूजा के प्रचलन को स्वीकार करते हैं। उनके विचार से लिंगपूजा, देवी की उपासना के साथ पश्चिमी एशिया से भारत में आई। इसके समर्थन में पश्चिमी विद्वानों के आधार पर जो ब्योरा उन्होंने प्रस्तुत किया है वह संक्षेप में इस प्रकार है :- प्राचीन काल में मिश्र और पश्चिमी एशिया में लिंगपूजा जोरों से प्रचलित थी। ग्रीक में ग्रीक देवता डायोनीसस की प्रजनन शक्ति के प्रतीक के रूप में लिंगपूजा की उपासना के प्रमाण मिलते हैं। बेबीलोन की देवी इश्तर और उसके पति की उपासना में लिंगपूजा के संकेत प्राप्त होते हैं। लिंगपूजा समेत ईश्तर

की इस उपासना का प्रचार दक्षिण और दक्षिण पूर्व में तथा ईरान तक फैला था, **(शैवमत, डॉ॰ यदुवंशी, बिहार राश्ट्रभाषा परिशद्)**। देवी की छोटी - छोटी मूर्तियाँ जैसी सिंधु घाटी में मिली हैं, वैसी ईजियन समुद्र के तट पर पश्चिमी एशिया में भी मिलती हैं। उसी प्रदेश में लिंग प्रतीक भी मिलते हैं। सिंधु घाटी में भी एक पुरूष देवता के चित्र मिट्टी की कुछ चौकोर टिकियों पर पाए गए हैं तथा पत्थर के कुछ ऐसे टुकड़े मिले हैं जिन्हें जननेन्द्रियों का प्रतीक कहा जा सकता है। डॉ॰ यदुवंज़ी का मानना है कि यह अनुमान समीचीन प्रतीत होता है कि सिंधु घाटी की लिंगोपासना उस लिंगोपासना का अंश मात्र थी जो समस्त पश्चिम एशिया में फैली हुई थी **(शैवमत, डॉ॰ यदुवंज़ी, बिहार राश्ट्रभाषा परिशद्)**। डॉ॰ यदुवंज़ी आर्यों के पंजाब आगमन का समय 250 ई. पू. मानते हैं। उनके विचार से जिस समय आर्य पंजाब में आए सिंधु घाटी की सभ्यता अत्यंत उन्नत अवस्था में थी **(शैवमत, डॉ॰ यदुवंज़ी, बिहार राश्ट्रभाषा परिशद्)**। ऋगवेद में शत्रुओं के जिन पुरों और दुर्गों का उल्लेख प्राप्त होता है उनसे डॉ. यदुवंज़ी सिंधु घाटी के पुरों और दुर्गों का अर्थ लेते हैं **(शैवमत, डॉ॰ यदुवंज़ी, बिहार राश्ट्रभाषा परिषद्)**। उनके अनुसार ऋगवेद में जिन शिश्नदेवा: अर्थात शिश्न अथवा लिंग को देवता मानने वालों की चर्चा की गई है, उनसे सिंधु घाटी के लोगों का ही बोध होता है क्योंकि यह उपाधि सिंधु घाटी के लोगों के लिए बिल्कुल ठीक बैठती है **(शैवमत, डॉ॰ यदुवंज़ी, बिहार राश्ट्रभाषा परिशद्)**। डॉ. यदुवंज़ी ने सिंधु घाटी के अवशेशों से प्राप्त उस सील की ओर भी संकेत किया है जिसमें एक पुरूष के दोनो ओर एक व्याघ्र, एक हाथी, एक गैंडा और एक भैंसा दिखलाए गए हैं **(शैवमत, डॉ॰ यदुवंशी, बिहार राश्ट्रभाषा परिशद्)**। उनके अनुसार यह देवता के पशुपति रूप का सूचक है जिसका वैदिक रूद्र से पर्याप्त साम्य दीख पड़ता है **(शैवमत, डॉ॰ यदुवंशी, बिहार राश्ट्रभाषा परिशद्)**। उन्होंने बतलाया है कि उपर्युक्त सील में इस पुरूष देवता को ऊधर्वमेढ्र अवस्था में दिखाया गया है **(शैवमत, डॉ॰ यदुवंज़ी, बिहार राश्ट्रभाषा परिशद्)**। फलत: वे इस निश्कर्ष पर पहुँचते है कि कालान्तर में जब इस देवता का रूद्र के साथ तादात्मय हुआ तो इस से संबंधित लिंग पूजा भी रूद्र ज़िव की उपासना में सम्मिलित हो गई **(शैवमत, डॉ॰ यदुवंशी, बिहार राश्ट्रभाषा परिशद्)**।

प्राचीन भारत में शिवपूजा का श्रीगणेश हड़प्पा निवासियों के समय से ही माना जा सकता है। इन विविध प्रकार की शिव मूर्तियों की प्राप्ति के आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि - शिव, आर्यों के पूर्व भारत के मूल निवासियों, जंगली कबीलों तथा आर्येत्तर जातियों के देवता प्रारंभ से ही रहे हैं। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि जंगली पशु उनके साथ जुड़े हैं जैसे सर्प, सांड आदि। जंगली कबीलों के लोग शक्तिशाली होते हैं तभी शिव शक्ति के देवता के रूप में भी भारतीय जीवन में घुले-मिले हैं। शिव को उत्पादन के देवता के रूप में भी पूजा जाता है। शिव के साथ सांड का साहचर्य उनके उस काल के उत्पादक देवता होने का बोधक है।

शिव के विविध रूप मानवाकृति, लिंगायत, पशुपति आदि इसी समय से प्रचलन में आ चुके थे। इसी ने आगे चलकर हिंदू शैव परिवार में अलग-अलग धार्मिक संप्रदायों के रूप में प्रमुख स्थान ग्रहण कर लिया। ऋग्वैदिक ऋचा में शिश्नदेवों का उल्लेख हुआ है, जिसके पास अतुलित संपत्ति थी। यहाँ शिश्नदेवों का अभिप्राय लिंगों से है। संभवत: इस विस्तार के परिणामस्वरूप आर्यों ने नये संप्रदाय को अपने में स्वीकार कर लिया होगा, तभी इसके अनेक तत्व अभी भी समाज में यथावत मान्य हैं।

संदर्भ सूची :

1. प्राचीन भारत, आलोक कुमार पाण्डेय, टाटा मैकग्रयू हिल्स सीरीज।
2. प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन, डॉ॰ शिवस्वरूप सहाय, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
3. सैंधव लोगों की धार्मिक मान्यताएँ, Posted by : संपादक - मिथिलेश वामनकर, On: फरवरी 15, 2009।
4. एनसियेंट हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न एशिया, इण्डिया एण्ड ब्रीट (प्राचीन भारत का इतिहास शीर्षक खण्ड)।
5. शैवमत, डॉ॰ यदुवंशी, बिहार राष्ट्रभाषा परिशद्।
6. आर्यों का आदि देश, स्वमी विद्यानंद सरस्वती।
7. ऋगवैदिक कल्चर ऑफ प्रिहिस्टोरिक इंडस, फॉरवर्ड।
8. आर्य संस्कृति के मूलाधार (प्र॰सं॰), बलदेव उपाध्याय, शारदा मंदिर बनारस।
9. भारत की प्राचीन संस्कृति, रामजी उपाधयाय, प्रकाशक किताब महल, प्रयाग।
10. भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास (प्रथम भाग), सत्यकेतु विद्यालंकार, सरस्वती सदन, मसूरी।
11. द्रवेड़ियन गॉड्स इन मॉर्डन हिंदूइज्म, डब्लू. टी. एलमोर।
12. सिंधु घाटी सभ्यता का इतिहास, पु॰, श्री॰, सदार, सम्यक प्रकाशन।
13. सिंधु सभ्यता, इरफ़ान हबीब।
14. प्रागैतिहासिक, इरफ़ान हबीब।
15. हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य, भगवान सिंह।
16. हिंदू हिस्टोरिज द बिगनिंग, निपुण शुक्ला।

नितप्रिया प्रलय, शोधार्थी, पीएच.डी., प्रदर्शनकारी कला (फिल्म एवं रंगमंच) विभाग, महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा, मो0 : 9890791636, 8676867691
ई–मेल : nitpriyapralay@gmail.com

असम का अंकिया–नाट

नितप्रिया प्रलय

नेमिचन्द्र जैन अपनी पुस्तक 'रंग परंपरा' में लिखते हैं– ''15 वीं से 17 वीं शताब्दी में भक्ति आन्दोलन की प्रेरणा से जिन अनेक नाट्य-प्रकारों का उदय हुआ या पहले से चले आते नाट्यों का नया संस्कार हुआ, वे एक धार्मिक आन्दोलन के अंग तो थे ही विशिष्ट धार्मिक या धर्मपंथीय उद्देश्यों के व्यापक प्रचार-प्रसार के लिए ही आयोजित हुए थे।

भारत के नाट्य इतिहास के अध्ययन के पश्चात् हम सभी को पता चलता है कि प्राचीन नाट्यकला रूपों का उद्भव धार्मिक और अनुष्ठानिक आयोजनों से हुआ है। मध्ययुग में जो भक्ति आन्दोलन हुआ उसका एक मात्र उद्देश्य समाज में उच्च मानवीय मूल्यों और आदर्शों की स्थापना करना था। भक्ति आन्दोलनों से जुड़े संतों ने समाज में फैले कुरीतियों एवं रूढ़ियों का पुरजोर विरोध किया इसके लिए संतों ने एक ऐसे माध्यम की खोज की जिसके द्वारा वे अपनी बात/विचार को सामान्य जन तक पहुंचा सके। उन्होंने इस बात का विशेष ख्याल रखा कि चुना गया माध्यम सामान्य जन के बीच पहले से लोकप्रिय हो। बहुत विचार विमर्श करने के बाद आन्दोलन से जुड़े लोगों ने सामान्यजन के कल्याण तक अपने विचार पहुंचाने हेतु गीत एवं नृत्य को अपना माध्यम बनाया। बाद में इस गीत एवं नृत्य के साथ लोक–कथाओं के समन्वय से नाट्य कला के विभिन्न नाट्य रूपों का उद्भव हुआ। असम का अंकिया नाट्य भी इन्हीं परंपराओं की प्रचलित कड़ी है। वैष्णव भक्ति आन्दोलन के पुरोधा संत शंकरदेव ने संस्कृत और लोकनाट्य शैली के सम्मिश्रण से एक ऐसी नाट्यधारा का प्रवर्तन किया जिस

हम वैष्णव नाटक 'अंकिया-नाट' के नाम से जानते हैं। अंकिया-नाट के उद्‌भव के बारे में विद्वानों के मत निम्नलिखित हैं।

डा. दशरथ ओझा अपनी पुस्तक में अंकिया-नाट के उद्‌भव काल के बारे में लिखते हैं-15 वीं शताब्दी के अंत में असम के अंकिया-नाटों की भाषा और अभिनय स्थलों की खोज हुई।

नेमिचन्द्र जैन अपनी पुस्तक 'रंग परंपरा' में लिखते हैं- ''15 वीं से 17 वीं शताब्दी में भक्ति आन्दोलन की प्रेरणा से जिन अनेक नाट्य-प्रकारों का उदय हुआ या पहले से चले आते नाट्यों का नया संस्कार हुआ, वे एक धार्मिक आन्दोलन के अंग तो थे ही विशिष्ट धार्मिक या धर्मपंथीय उद्‌देश्यों के व्यापक प्रचार-प्रसार के लिए ही आयोजित हुए थे। जिनमें असम का अंकिया-नाट, तमिलनाडु का भागवत मेल, केरल का कृष्णाअट्टम, आन्ध्र का कुचिपुड़ि, महाराष्ट्र का दशावतार, उत्तर प्रदेश का रासलीला और रामलीला स्पष्टत: वैष्णव धार्मिक आनुष्ठान जैसे हैं, जिनमें बहुत बार अभिनेता साधारण मानव न रहकर 'स्वरूप' या अवतार माने जाते हैं और उसी रूप में प्रदर्शन के दौरान ही उनकी पूजा होती है।

ओमप्रकाश भारती लिखते हैं- ''अंकिया-नाट असम का जनप्रिय पारंपरिक नाट्य रूप है। इसे वैष्णव नाटक भी कहा जाता है। अंकिया नाट का आविर्भाव 16 वीं शताब्दी में मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन की स्निग्ध छाया में हुआ। इसके बाद प्रणेता प्रसिद्‌ध वैष्णव संत श्री शंकर देव (1449.1557) ई. को माना जाता है। उन्होंने समाज में उच्च नैतिक आदर्शों को लोकमंच के द्वारा प्रस्तुत किया। आज भी असम के ग्रामीण अंचलों में अंकिया-नाट श्रद्धा और भक्ति-भाव के साथ खेले जाते हैं।

असम आदिम संस्कृति एवं कला का केन्द्र रहा है, किन्तु मध्ययुग में वैष्णव धर्म, विशेष कर कृष्ण भक्ति आन्दोलन के अभ्युदय, विकास एवं विस्तार ने आसाम जैसे दूरवर्ती प्रदेश को भी अपने अंचल में समेट लिया। फलस्वरूप एक ओर कृष्ण रस से संबंधित मणिपुरी लोकनृत्य तथा दूसरी ओर वैष्णव कवि नाटककार शंकरदेव के नेतृत्व में अंकिया नाट (16 वीं शताब्दी) का विकास हुआ।

इस प्रकार ऊपर के तथ्यों के विश्लेषण करने के बाद निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि अंकिया-नाट का उद्‌भव और विकास 15 वीं से 17 वीं शताब्दी में हुआ है। इसके प्रवर्तक असम के वैष्णव संत शंकरदेव हैं। इनका उद्‌देश्य था उच्च नैतक आदर्शों को समाज में स्थापित करना, इसके लिए उन्होंने लोकमंच का सहारा लिया। शंकरदेव ने अपने शिष्यों सहित ब्रजमंडल की यात्रा की। वहाँ उन्होंने कृष्ण के जीवन पर आधारित लीलाओं को देखा वहाँ से वह पूर्वांचल भारत की यात्रा पर गए। वहाँ उन्होंने बंगाल में जात्रा तथा बिहार में कीर्तनियाँ उमापति रहित पारिजातहरण आदि देख असम लौटने के बाद अपने अनुभव से ब्रजबूली की रचना की। जिसे विद्वानों ने अंकिया-नाट का नाम दिया। कहा जाता है कि शंकरदेव ने अंकिया शब्द का प्रयोग नहीं किया है, उन्होंने अपने नाटकों को नाटिका, नाट, यात्रा और नृत्य आदि का नाम दिया है। असमी

नाटक में नाट और नाटक में कोई अंतर नहीं समझा जाता है। महापुरूष शंकरदेव ने अपने नाटकों के लिए नाट, नाटक, तथा यात्रा तीनों ही शब्दों का प्रयोग किया है। अनुमानत: यह कहा जा सकता है कि शंकरदेव के बाद के विद्वानों ने इसका प्रयोग किया है। जिसका प्रमाण डॉ. ओमप्रकाश भारती की पुस्तक लोकायन से होता है।

अनुमानत: यह शब्द उनके बाद प्रचलित हआ होगा। शंकरदेव से पहले अंक शब्द का प्रयोग असमिया एकांकी नाटकों के लिए किया जाता था। इसका प्रमाण रामशरण ठाकुर-की एकांकी चरितपुथी है। विद्वानों का तर्क है कि अंकिया-नाट एक ही अंक का होता है इसलिए इसे- अंकिया कहा जाए और नाट शब्द संस्कृत रंगमंच से लेकर अंकिया नाट शब्द का रूढ़ हुआ होगा।

ज्यादातर अंकिया-नाट में एक ही अंक होता है, इसीलिए इस प्रकार के नाटक को 'अंकिया या एक अंक वाला नाटक' कहते हैं।

इस आधार पर कह सकते हैं कि अंकिया-नाट एक ही अंक का होता है। अंकिया-नाट के एकांकी होने के कारण आकर में प्राय: वे लघु होते हैं और उनमें उतनी ही कथा समाविष्ट की जाती है जिसका अभिनय एक रात्रि में सरलता से हो सके। सूत्रधार कथासूत्रों को जोड़कर नाटकीय कथा को गति प्रदान करता है।

कपिला वात्स्यायन के अनुसार 'इन नाटकों का लोकप्रिय नाम अंकिया-नाट है, उत्तरवर्ती नाटककारों, विशेष रूप से रामानंद और रामशरण ने शंकरदेव के नाटकों का वर्णन करने के लिए 'अंकिया-नाट' शब्द का प्रयोग किया है। अब यही नाम प्रचलित हो गया है।

अंकिया-नाट के महत्वपूर्ण तत्व निम्नलिखित हैं-

- गायन और बायन (वाद्य मंडल) दर्शकगण के आकर्षण को बढ़ाते हैं।
- इनका पारखी सूत्रधार के शब्दों और नृत्यों की प्रशंसा करते हैं।
- इसके लिए संस्कृत के श्लोकों की रचना की जाती है क्योंकि उनका अर्थ ग्रहण करने वाले लोग विद्वान होते हैं।
- दर्शकगण में उपस्थित ब्राह्मण इन गीतों का अर्थ समझेंगे।
- सामान्य ग्रामीण लोग ब्रज बोली के शब्दों को समझ सकेंगे।
- अनजान लोग मुखौटे और प्रतिमाएँ देखेंगे।
- प्रस्तुत नाटक में कृष्ण का गुणगान।
- यह नाटक के सात अनमोल तत्व होते हैं।

कथानक (अंकिया-नाट)

कृष्ण के चरित को नाट्य में विकसित कर प्रस्तुत करने का प्रयत्न सर्वप्रथम

'अंकिया-नाट' के जरीय यह असम में हुआ है। विद्वानों ने शंकरदेव के नाटकों की संख्या नौ बताई है जिसमें छह नाटकों का ही प्रकाशन हो पाया है और जो उपलब्ध भी है जिसके नाम निम्नलिखित है- रूक्मिणी-हरण, कालियदमन, केलिगोपाल, परिजातहरण, राम-विजय और पत्नी प्रसाद। शंकरदेव द्वारा रचित नाटकों को ही विद्वानों ने अंकिया-नाट का नाम दिया है। उपरोक्त नाटकों के कथानकों की बात करें तो हम देखते हैं कि इनमें से चार कृष्ण कथा पर आश्रित है (रूक्मिणी-हरण, कालियदमन, केलिगोपाल, परिजातहरण आदि) और रामविजय राम की कथा पर तथा पत्नी-प्रसाद की कथा विवाहित ब्राह्मणी स्त्रियों के अतिशय कृष्ण प्रेम पर आधारित है। विद्वानों ने इसकी व्याख्या निम्न प्रकार से की है जो नीचे निम्नलिखित है:-

डॉ. जगदीशचंद्र माथुर अपनी पुस्तक परंपराशील नाट्य में लिखते हैं- ''दक्षिण और पूर्वी भारत के परंपरागत नाट्यों में एक ही प्रकार के पौराणिक कथानकों का प्रयोग हुआ। नृसिंहावतार, श्रीकृष्ण-लीला, रामचरित, महाभारत के दृश्य-यह कथाएँ असम से केरल तक सभी प्रकार के नाट्यों में मिलती हैं।

शंकरदेव ने नाटकों में जो गीतों का प्रयोग किया है। उसमें प्रयुक्त राग और ताल की सूची निम्नलिखित हैं।

रागों के नाम	तालों के नाम
कानड़ा, बेलोवारी, धनाश्री, रागश्री, आसोआरी, पायाड, श्रीगान्धार, सिन्धुरा, स्याम, गौरि कलयाणपयाड़ राग, माउर, धनाश्री, राग तुड़, राग, श्रीगौरि, पुर्ब्बी, बसंत, बेलआल, कानड़ा राग, केदार, भाठीआलि, सुहाई, दोमानि, कौ, कौउ, तुड़, नाटमल्लार, राग तथा, राग अहिर, नाट, माहुर, सारें, भाठीयाली।	परिताल, मान एकताल, एकताल, रूपकताल, परिताल, एकतालितालेन, खरमान, जौतिमान दोमानी, मान परिताल, ताल जोति, जौतिमान, चुटीकाला मान, धनश्रीएकताली, जातिमान बिसम ताल, मान जति, चुटिकाला।

शंकरदेव के नाटकों में रस का प्रयोग निम्नलिखित है:-

- दर्शकों या आमजन में भक्ति-भाव उत्पन्न करना महापुरूष शंकरदेव का मुख्य उद्देश्य था। उनके नाटकों में विभिन्न रसों का प्रयोग हुआ है।
- कलिदमन यात्रा में भयानक तथा करूण रस,
- केलिगोपाल में श्रृंगार रस,
- पत्नीप्रसाद में अद्भुत रस,

- रूक्मिणी हरण और राम विजय में श्रृंगार तथा वीर रस
- परिजातहरण में वीर तथा बीभत्स रसों का प्रयोग किया है।

अँकिया-नाट में बीच-बीच में पयाड़ नामक एक गीत के प्रकार का भी प्रयोग किया गया है। जैसे-

हे परमेश्वर जगत-निबासा। हम् नारद तुया चरनक दासा।।

भरमो दिस दस तुया जष गाया। हामक् आगु करसि ओही माया।

ज्गत उद्धारन जाहेर चरित्र। ताहेक हाम् कयलु पवित्र।।

जाहेरि नामो मुक्ुति-पद पाई। सो हरि कर तुति-नति कतिलाई।।

यह गीत भी भटिमा अन्य गीत के तरह ही अँकिया नाट में प्रयोग में लाया जाता है।

अंकिया-नाट में गद्य का प्रयोग-

शंकरदेव कृत अँकिया नाट्य में गद्य का भी प्रयोग किया है। अंकिया नाट्य में गद्य की कुछ विशेषताएँ हैं वो स्थान-स्थान पर संगीत-लय से युक्त है। उदाहरण-

'तदनन्तर परम बिप्रिय बानि सुनिए राजनन्दनिक माथे जैसे कलम भाडल। श्रीकृष्ण निरासा सुनिए दिश दश अँधिआरि देखिए मुर्च्छित हया ततकाले परल, जैचे कदलिक बाते उपारल।

कहीं कहीं कविता के उपयुक्त आलंकारिक भाषा का भी प्रयोग हुआ है-

'आहे सभासद लोक, जे जगतक परम गुरू, परम पुरूष पुरूषोतम, सनातन ब्रह्मा महेससेवित चरनपंकज नारायण, श्री श्रीकृष्ण.....।''

शंकरदेव ने अपने नाटकों में कहीं-कहीं वाक्य में तुक बंदी भी मिलता है और मात्राएँ भी बराबर हैं- उदाहरण

'तदनंतर ढोल ढक्का, संख गोमुख, मृदु मृदंग, ताल करताल, काहाल कोलाहल, महोत्सव रव सुनियह, जानकी सखिक सम्बोधि बोलल'।''

कहीं-कहीं असमी लोकोक्तियों का भी प्रयोग हुआ है, जैसे

'राजनन्दनिक माथे जैचे कलस भाडल।

जैचे कदलिक बाते उपारल।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि अँकिया-नाट असम का बेहद लोकप्रिय पारंपरिक लोक नाट्य रूप है। जिसके माध्यम से रंगकर्मी समाज में उच्च मानवीय मूल्यों एवं आदर्शों की स्थापना करने की कोशिश करते हैं। इसके द्वारा समाज में फैले कुरीतियों तथा रूढ़ियों का लगातार विरोध होता रहा है जो इस लोक नाट्य रूप के जनप्रिय होने का प्रमुख कारण है।

संदर्भ सूची:-

1. डा. दशरथ ओझा हिन्दी नाटक: उद्‌भव विकास पृ.सं. 11
2. नेमिचद्र जैन रंगपरम्परा (भारतीय नाट्य में निरंतरता और बदलाव) पृ.सं. 35
3. ओम प्रकाश भारती लोकायन (लोककला, रूपों पर एकाग्र) पृ.सं. 85
4. डॉ. महेंद्र भानावत, लोक रंग पृ.सं. 305
5. डॉ. कपिला वात्स्यायन, पारंपरिक भारतीय रंगमंच अनंत धाराएं पृ.सं. 85
6. जगदीशचंद्र माथुर, परंपराशील नाट्य पृ.सं. 18
7. पारिजात हरण नाट मूल प्रति पृ.सं. 132
8. रूक्मिनिहरण नाट, मूल प्रति श्लोक नं0 13 के नीचे
9. कालियदमन यात्रा, ''श्लोक नं. 4 के ऊपर
10. श्रीरामविजय नाट, गीत सं. 15 की नीचे
11. रूक्मिनिहरण नाट, श्लोक सं. 13 के नीचे

लेखकों से अनुरोध

1. मौलिक तथा अप्रकाशित–अप्रसारित रचनाएँ ही भेजें।
2. रचना फुलस्केप कागज पर साफ लिखी हुई अथवा शुद्ध टंकित मूल प्रति भेजें।
3. रचनाकार/लेखक अपना पूरा परिचय, पता, फोन नम्बर एवं फोटो साथ भेजें।
4. लेखकों से निवेदन है कि लेख की एक प्रति अपने पास अवश्य रखें।
5. रचना के साथ उसके मौलिकता का प्रमाण पत्र भेजें।

ई–मेल : sahityayatra@gmail.com

सम्पादक

राजीव उपाध्याय, **संप्रति** : अध्यापन (दिल्लीविश्वविद्यालय) एवंसम्पादक (मैना)
लेखन : कविताएवंअर्थशास्त्र
प्रकाशन : कविताएँ अटूटबंधन, करुणावती साहित्य धारा, मेरीचौपाल, प्रतिलिपि, युवासुघोष, जयविजय (ई–मैगजीन), काव्यसागर, कवितासंसार, हिन्दीसाहित्य, हेलोभोजपुरी, दीभोजपुरी, आखर व भोजपुरिका में प्रकाशित। आर्थिक आलेख विभिन्नपत्र – पत्रिकाओं में प्रकाशित। टीवी एवं रेडियो पर कार्यक्रम।
संपर्क : rajeevupadhyay@live-in, दूरभाष संख्या : 9650214326

कितने पथिक

मैं पथ बन
हर पल खड़ा हूँ
कितने पथिक
आए-चले गए।

कुछ देर तक ठहरे
कुछ गहरे कहीं तक उतरे
और पल में कुछ
कहानी नई कर गुजरे।
कितने पथिक
आए-चले गए।।

ठंढक सुबह की कभी
तो उमस शाम की भी
कुछ चाँदनी रातें
तो भयानक दोपहर भी
उदासियाँ और उबासियां
बदल-बदल कर लिबास अपना
वक्त संग खेलते गए
वक्त में पिघलते गए।
कितने पथिक
आए-चले गए।।

पर आज भी मैं
धूल की चादर चेहरे पर लगाए
बीच राह आकर खड़ा हूँ
और हूँ सहेजता
कि कहानी कोई
मुँडेर से बिखर ना जाए।
कितने पथिक
आए-चले गए।।

उसके कई तलबगार हुए

कभी हम सौदा-ए-बाज़ार हुए
कभी हम आदमी बीमार हुए
और जो रहा बाकी बचा-खुचा
उसके कई तलबगार हुए।

सितम भी यहाँ ढाए जाते हैं
रहनुमाई की तरह
पैर काबे में है
और जिन्दगी कसाई की तरह।

अजब कशम-कश है
दोनों जानिब मेरे
एक आसमान की बुलंदी की तरफ
तो दूसरा जमीन की गहराई है।

इबादतगाह तक मैं जाता नहीं
और खुदा कहीं मिलता नहीं
थक गया हूँ भागते-भागते मैं
कि घर तक रौशनी आई है।

समय

समय की ही कहानी कह रहे हैं सभी
पशु, आदमी या हो फिर कोई चींटी।

हेर-फेर है किरदारों में बस
कि आइने की अराइश से
बह रही हैं स्वर लहरियाँ कई
जो हो कर गुजरती हैं कानों से सभी।
समय की ही कहानी कह रहे हैं सभी।

उन स्वरों से धुन कई हैं निकलतीं
जो कहानी बन कर हैं पिघलतीं
और इस तरह हर आँख में
नया बिम्ब हैं भरतीं।
समय की ही कहानी कह रहे हैं सभी।

पर जैसे ही उस पार जा कर समय के
लगा कर हाथ छूते हैं पूछते हैं
कि भर भरा कर ढह जाती
ऊँची बड़ी प्राचीर समय की।
समय की ही कहानी कह रहे हैं सभी।
कि शून्य ही शून्य हो जाता है हर तरफ
जो धीरे-धीरे मुझको ही
मुझ पर आच्छादित कर जाता है
समय इस तरह मेरी कहानी बन कर मुझे
दुहराता है।
समय की ही कहानी कह रहे हैं सभी।

मेरी कहानी

तूफान कोई आकर
क्षण में चला जाता है
पर लग जाते हैं बरसों
हमें समेटने में खुद को
संभला ही नहीं कि बारिश कोई
जाती है घर ढहाकर।

ये सिलसिला हर रोज का है
और कहानी में समय की लकीर को
खींच कर बढाते हैं
घटाते हैं
कि होने का मेरे मतलब
आकर कोई रोज कह जाता है।

तस्वीर बदलती है

घर में मेरे बहुत लोग रहते हैं
जान-पहचान मगर
शायद ही किसी से है।

हर आदमी का चेहरा
जो दिखाता है वो नहीं
आँखों में उसके कई अक्स दिखते हैं
और नकाब चेहरे से उतार कर
बातें कहता है कई।

यकीन करना चाहता हूँ
हर तस्वीर पर मैं
पर पहलू बदलते ही
रंग बदलता है
और मैं भी कहाँ
पहले जैसा रह जाता हूँ।
इस तरह
हर आदमी
अजनबी ही रहता है।

एक तस्वीर नई है

मैं ख्वाब हूँ
जाने कितनी ही आँखों का
और हर आँख में
एक तस्वीर नई है।

किसी की आँखों की चमक हूँ मैं
तो किसी की सांसों की दमक
एक ही आदमी हूँ मगर
चलता हूँ कई सड़क।

जब मैं मेरे होने का मतलब
मुझसे पूछता हूँ
मेरे अंदर की हर तस्वीर
कई इबारत गढ़ती है
और हर अक्स मेरे मन की अराइश पर
खूबसूरत, उतना ही निखरती है
कि छूकर जिसे मैं
मेरा मतलब पाता हूँ।

पर हर मतलब का अपना ही मतलब है
कि शायद यूँ कर के ही
जिन्दगी की तलब है।

हाँ बस इतनी सी ही जिंदगी

उसे नाराजगी है मेरे गाँव से
कि भाषा मेरी अब तक वही है
कि कपडे भी मेरे कई बार
पिताजी का अक्स ले आती है
और सुडक-ना-चाय तो कसम
आ-बरू सडक तक ले आती है।
मैंने बदल दी है हर वो बात
जो पुरानी सी लगती है
ना तस्वीर कोई पुरानी है अब
ना ही कागज से कोई सील-न टपकती है
फिर भी नहीं खुश है वो
कि इस ढाँचे से मेरी माँ की
कोई सूरत निकलती है।
हाँ बस इतनी सी ही जिंदगी
जो रह रह कर पिघलती है।

रंजना चौबे

1. आँखों की नमी

जिंदगी में छा जाती हैं खुशियाँ
तो
कभी दुख के बादल भी मँडराते हैं।
खुशी में मुस्कुराती है आँखे
तो
गम में नम हो जाती है आँखें
पुतलियों में ठहर जाता है
इसका शांत-एकांत जल
ठहरा टपकता-सिसकता जल।
कभी कभी यह सुप्त जल
बरस जाना चाहता है
लेकिन अकसर
इसकी बूँदें काँप-सी जाती हैं
एकाएक गुम हो जाती है।
अपने अस्तित्व खोकर वह अपना ही जल पी जाती है।
नम आँखों की नमी का जल.....
जिसमें उलझी है उसके दुख की कड़ियाँ
जीवन की हसीं फुलझड़ियाँ
उन कड़ियों को लड़ियों को
नम आँखों से वह पी जाती है।

2. आँसू

'आँसू' आँसू है
चाहे मेरे हो या तुम्हारे।
अपने हो या पराए
हम सबके आँसू बस आँसू ही है।
कभी आँखों से टपकते
गालों से लुढ़कते
नीर से झरते
गीले-खारे आँसू
आँखों से मोतियों की माला की तरह बिखरते
शुभ्र श्वेत निर्झर से झरते
पागलपन का एहसास कराते आँसू।
चाहे सुख हो या दुख
हँसी हो या खुशी
नाहक ही बह जाते हैं आँसू
अपनी व्यथा-कथा कह जाते हैं आँसू।
महफिल हो या तन्हाई
आँखों से छलक जाते हैं आँसू।
लेकिन
वक्त आने पर मरहम भी बन जाते है ये आँसू।
भीड़ में अपनेपन का एहसास कराते हैं ये आँसू।
आखिर 'अपने' जो हैं ये आँसू।

✧ ✧ ✧

डॉ. प्रिया शर्मा को मिला 'साहित्य पुरस्कार'

युवा कवयित्री और पहाड़ी कविताओं के लिए चिरपरिचित नाम डॉ. प्रिया शर्मा को हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी, शिमला द्वारा 'साहित्य पुरस्कार' योजना के अन्तर्गत डॉ. शर्मा को उनके पहाड़ी (हिमाचली) साहित्य पुरस्कार से सम्मानित किया गया। 13 जून 2016, प्रातः 11:30 बजे समागार, होटल होली हेड होम शिमला में सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर माननीय मुख्यमंत्री हिमाचल प्रदेश एवं अध्यक्ष अकादमी ने उनके काव्य संग्रह 'मास्टर ते जगतो' के पहाड़ी साहित्य पुरस्कार से सम्मानित किया। इस सम्मान समारोह में मुख्यमंत्री श्री वीरभद्र सिंह जी ने डॉ. प्रिया शर्मा को प्रशस्ति पत्र, स्मृति चिन्ह, पहाड़ी टोपी, पहाड़ी शॉल ओढ़ाकर साथ में 51,000/– रु. की राशि देकर सम्मानित किया। इसके अलावा शर्मा जी की एक दर्जन से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हुई तथा अनेक शोध पत्रा एवं आलेख राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। समागार में उपस्थित अकादमी के उपाध्यक्ष अशोक हंस तथा अन्य अनुराधा ठाकुर, शशि ठाकुर, सुरेश सेन, मुरारी शर्मा, डॉ. ओमप्रकाश, निधि शर्मा, निधि चावला, प्रो. एम पी सक्सैना एवं देश–विदेश से आये विद्वतजन उपस्थित थे। डॉ. प्रिया शर्मा दयालसिंह कॉलेज दिल्ली विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग में प्राध्यापक हैं।

अशोक विहार स्थित सुंदरलाल जैन समागार में पं. तिलकराज शर्मा स्मृति शिखर सम्मान समारोह का भव्य आयोजन सम्पन्न हुआ । प्रसिद्ध कवि–गजलकार, श्री बालस्वरूप राही ने कार्यक्रम की अध्यक्षता की। विश्व प्रसिद्ध सन्तूर वादक पद्मश्री पं. भजन सोपोरी ने शिक्षा, साहित्य, कला, स्वास्थ्य एवं समाज सेवा के क्षेत्र में अग्रण्य विभूतियों को पं. तिलकराज शर्मा शिखर सम्मान प्रदान किए। शिक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान के लिए वयोवृद्ध, शिक्षाविद्, साहित्यकार श्री मुरारीलाल त्यागी को शिक्षा सेवा शिखर सम्मान पंजाबी भाषा के क्षेत्र में डॉ. सरुप सिंह अलग को भाषा सेवा शिखर सम्मान, साहित्य के क्षेत्र का 'साहित्य सृजन शिखर सम्मान ' जाने–माने हिंदी सेवी, व्यंग्यकार डॉ.हरीश नवल को प्रदान किया गया। प्रसिद्ध शल्य चिकित्सक डॉ. राजीवनन्दन सहाय को संजीवन सृजन शिखर सम्मान , जाने माने शास्त्रीय गायक, संगीतज्ञ प्रो. ओजेश प्रताप सिंह को सुर–सृजन शिखर सम्मान तथा श्री गजराज सिंह (ए.सी.पी. दिल्ली पुलिस) को समाज सृजन शिखर सम्मान प्रदान किए गए। पं. तिलकराज शर्मा के सुपुत्र एवं ट्रस्ट के अध्यक्ष श्री इन्द्रजीत शर्मा ने पुष्पमाला पहना कर ग्यारह–ग्यारह हजार रुपये, वरिष्ठ साहित्यकार श्री बालस्वरूप राही ने शॉल, पद्मश्री पं. भजन सोपोरी ने स्मृति चिह्न और कार्यक्रम के संयोजक, संचालक कवि, चित्रकार रोटे. हर्षवर्धन आर्य ने सभी सम्मान विजेताओं को प्रशस्ति पत्र प्रदान कर सम्मानित किया। कार्यक्रम का शुभारम्भ अमृता आर्या ने सुमधुर सरस्वती वंदना से किया। कार्यक्रम में उर्दू के शायर प्रो. सादिक, डॉ.अपर्णा सोपोरी, कवयित्री श्रीमती पुष्पा राही, डॉ. स्नेह सुधा नवल, वरिष्ठ कवि रामकुमार घक, वरिष्ठ दोहाकार नरेश शाण्डिल्य, डॉ. रवि शर्मा, आधुनिक पत्रिका के सम्पादक आशीष कंधवे, संगीतज्ञ डॉ. सोभा, ट्रस्टी अंजू शर्मा, तरुण शर्मा, छाया शर्मा, कवयित्री कुसुम शर्मा, डॉ. सविता चड्ढ़ा, प्रसिद्ध चित्रकार रूपचन्द ,श्रीकान्त दुबे , वंदना दुबे, रोटे.सुशील गुप्ता, राजेश कंसल सहित साहित्य, कला, संगीत, समाजसेवा एवं चिकित्सा जगत की अनेक जानी–मानी हस्तियों ने शिरकत की।